भारतीय साहित्य सिद्धान्त

(Indian Literature Theory)

शीतल शानू

भारतीय साहित्य सिद्धांत

भारतीय साहित्य सिद्धांत
(Indian Literature Theory)

शीतल शानू

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5476-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली – 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है – उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगाल में असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है- जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तुलू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है, जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण- सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाये तो वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है- ज्ञान का अपार भंडार, हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म।

भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्त्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं। किंतु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओत-प्रोत है, किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की

भ्रांति संभव है। दक्षिण की भाषाओं का उद्‌गम एक है—सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है। यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगाल के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्त्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलगु के द्वि-अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (कलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के अख्यान और फागु, बँगला का मंगल काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगति, उर्दू की गजल और हिंदी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचार-धाराओं और जीवन प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज-संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिकता एकता और भी रमणीय है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

—लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**भारतीय साहित्य**	**1**
	भूमिका	1
	भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता और उसके आधार-तत्त्व	2
	भारतीय साहित्य - एक विहंगम् दृष्टि	6
	हिंदी के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा	9
	पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा	10
2.	**संस्कृत साहित्य**	**13**
	संस्कृत साहित्य का महत्त्व	13
	वेद, वेदांग, उपवेद	15
	दर्शनशास्त्र	16
	प्रगतिशीलता	20
3.	**पालि भाषा का साहित्य**	**22**
	पालि साहित्य की विकासयात्रा	22
	मूल पालि साहित्य या पिटक	23
	अनुपालि या अनुपिटक	28
	अन्य वंश ग्रन्थ	34

4. प्राकृत साहित्य **38**
मध्ययुगीन भाषाओं (प्राकृत) की मुख्य विशेषताएँ 38
प्राकृत की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त 39
प्राचीन स्तर की प्राकृत 42
द्वितीय स्तर की प्राकृत 44
जैन परंपरा का कथात्मक साहित्य 54
महाराष्ट्री प्राकृत 56
5. हिंदी साहित्य **61**
परिचय 62
संरचना 63
सिद्ध और नाथ साहित्य 65
भक्ति काल 69
संत कवि 70
परिचय 70
कृष्णाश्रयी शाखा 74
हिन्दी की विभिन्न बोलियों का साहित्य 87
पश्चिमी और पूर्वी हिंदी 88
हिंदी प्रदेशों की हिंदी बोलियाँ 91
6. उर्दू साहित्य **93**
उद्गम 94
शुरुआती रचनाकार 95
दक्कनी उर्दू 96
7. मगही साहित्य **104**
मगही (मागधी) साहित्य का इतिहास 106
मगही भाषा-साहित्य 108
मगही लोक साहित्य 108
मगही कथा (उपन्यास) साहित्य 110
मगही एकांकी-नाटक 110
8. ओड़िया साहित्य **113**
आदियुग 113
मध्ययुग 114

पूर्व मध्ययुग 114
रीतियुग 115
आधुनिक युग 116
9. बंगाली साहित्य 119
प्राचीन बँगला साहित्य (950 से 1200 ई. तक) 119
10. असमिया साहित्य 134
वैष्णव पूर्वकाल 134
वैष्णवकाल 135
बुरंजी, गद्यकाल 136
आधुनिक काल 136
स्वाधीनतोत्तरकाल 138
11. मराठी साहित्य 140
इतिहास 140
ज्ञानदेव तथा नामदेव 141
तुकाराम तथा रामदास 142
नए युग का आरंभ 144
आधुनिक काल 1874-1929 144
12. तेलुगु साहित्य 150
काल विभाजन 150
काव्यकाल (1400 से 1700) 153
संस्कृत एवं तमिल आदि का प्रभाव 158
पत्र-पत्रिकाएँ 159
13. कन्नड़ साहित्य 161
काल विभाजन 161
पंपपूर्व युग 162
पंप युग 163
बसव युग 165
कुमारव्यास युग 166
आधुनिक युग 170
आधुनिक कन्नड़ का प्रथम उत्थान 171
कन्नड़ साहित्य का परिचय 173

कन्नड़ साहित्य और समाज 179
14. गुजराती साहित्य 181
मध्यकालीन साहित्य 181
अर्वाचीन साहित्य 183
15. आदिवासी साहित्य 188
आदिवासी साहित्य की उपलब्धता 188
आदिवासी साहित्य की अवधारणा 189
16. भारतीय लिपियाँ 194
भारत में लिपि का उद्‌भव और विकास 194
भारतीय लिपियों की विशेषता 197

1

भारतीय साहित्य

भारतीय साहित्य से तात्पर्य सन् 1947 के पहले तक भारतीय उपमहाद्वीप एवं तत्पश्चात् भारत गणराज्य में निर्मित वाचिक और लिखित साहित्य से है। दुनिया में सबसे पुराना वाचिक साहित्य आदिवासी भाषाओं में मिलता है। इस दृष्टि से आदिवासी साहित्य सभी साहित्य का मूल स्रोत है। भारतीय गणराज्य में 22 आधिकारिक मान्यता प्राप्त भाषाएँ है। जिनमें मात्र 2 आदिवासी भाषाओं – संथाली और बोड़ो – को ही शामिल किया गया है। वर्तमान समय में भारत में मुख्यत: दो साहित्यिक पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं, साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार। हिन्दी तथा कन्नड़ भाषाओं को आठ-आठ ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किए गये हैं। बांग्ला और मलयालम को पाँच-पाँच, उड़िया को चार, गुजराती, मराठी, तेलुगु और उर्दू को तीन-तीन तथा असमिया, तमिल को दो-दो और संस्कृत को एक ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया है।

भूमिका

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है – उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगाल में असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है- जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तुलू आदि। इनमें से प्रत्येक का,

विशेषत: पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है, जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण– सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाये तो वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है– ज्ञान का अपार भंडार, हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता और उसके आधार-तत्त्व

भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्त्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएं कितनी मिली हुई हैं। किंतु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है, किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है। दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है–सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है ! यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगाल के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्त्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियां हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलगु के द्वि-अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (कलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के अख्यान और फागु, बँगला का मंगल काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगति, उर्दू की गजल और हिंदी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचार-धाराओं और जीवन प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का

अनुसंधान भी सहज-संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिकता एकता और भी रमणीय है।

जन्मकाल

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़कर भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्मकाल प्रायः समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं सती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (814-877 ई.), और मलयालम की सर्वप्रथम कृति हैं 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रन्थ सन् 1185 ई. में रचित शालिभद्र सुरि का 'भारतेश्वरबाहुबलिरास' है। मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं में सत्य है। बँगला की चर्यागीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी, असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अंत के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लादचरित्र' तथा 'हरिगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं।

उधर चौदहवीं शती में तो उड़िया के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है-तमिल, जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्गम और भी पहले मानते हैं) और उर्दू, जिसका वास्तविक आरम्भ पंद्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। हालाँकि कुछ विद्वान उर्दू का भी उद्भव 13-14 वीं शती के बाबा फरीद, अब्दुल्ला हमीद नागोरी तथा अमीर खुसरो की रचनाओं से मानने लगे हैं।

विकास के चरण

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है।

पूर्वमध्यकाल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात शती के मध्य में तथा सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है, सभी प्राय: समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं। इस समानांतर विकास-क्रम का आधार अत्यंत स्पष्ट है और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम।

समान राजनीतिक आधारभूमि

बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ संपर्क बना रहा। मुगलों की सत्ता खंडित हो जाने के बाद भी यह संपर्क टूटा नहीं। मुगल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एक छत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ, किंतु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न-भिन्न होने पर भी उनकी सामंतीय शासन-प्रणाली प्राय: एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अँग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

समान सांस्कृतिक आधारभूमि

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध-धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-संप्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरंभ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्राय:सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं

सिद्धांत-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी-संत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत-संप्रदाय वेदांत दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किंतु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति।

सूफी-संतो का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में भी इनके अनेक केंद्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरंभ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश-भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजारित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व-जैसे वैभव-विलास, अलंकरण सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नयी दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें रह गयी। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य-शिक्षा का संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजी का प्रभुत्व सारे देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

समान साहित्यिक आधारभूमि

भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनकी साहित्यिक आधारभूमि एक ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात्य साहित्य – अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, श्रीहर्ष, अमरूक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में

लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला। शास्त्र के अन्तर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ – नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं, जो प्राय: सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वत: ही आ गई है।–इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

भारतीय साहित्य - एक विहंगम् दृष्टि

सबसे पुराना जीवित साहित्य ऋग्वेद है, जो संस्कृत भाषा में लिखा गया है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं से गुजरते हुए आज हम भारतीय साहित्य के आधुनिक युग तक पहुंचे हैं। भारत में 30 से भी ज्यादा मुख्य भाषाएँ हैं और 100 से भी अधिक क्षेत्रीय भाषाएँ है। लगभग हर भाषा में साहित्य का प्रचुर विकास हुआ है। भारतीय भाषाओं के साहित्य में लिखित और मौखिक दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में हिन्दू धार्मिक ग्रंथों की अहम भूमिका रही। वेदों के साथ-साथ रामायण और महाभारत जैसे महाग्रंथ प्राचीन भारत में रचे गए। अन्य प्राचीन ग्रंथों में वास्तु शास्त्र, कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि प्रमुख है।

साहित्य का स्वरूप एवं परिभाषा

साहित्य शब्द का विग्रह दो तरह से किया जा सकता है। सहित = सहित =सहभाव, अर्थात हित का साथ होना ही साहित्य है। साहित्य शब्द अंग्रेजी के Literature का पर्यायी है।

साहित्य का स्वरूप

भाषा के माध्यम से अपने अंतरंग की अनुभूति, अभिव्यक्ति कराने वाली ललित कला 'काव्य' अथवा 'साहित्य' कहलाती है। साहित्य की व्युत्पति को ध्यान में रखकर इस शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत किए गए है। 'यत' प्रत्यय के

योग से साहित्य शब्द की निर्मिति हुई है। शब्द और अर्थ का सहभाव ही साहित्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार हितकारक रचना का नाम साहित्य है।

साहित्य शब्द का प्रयोग 7-8 वीं शताब्दी से मिलता है। इससे पूर्व साहित्य शब्द के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता था। भाषाविज्ञान का यह नियम है, कि जब एक ही अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग होता है, तो उनमें से एक अर्थ संकुचित या परिवर्तित होता है। संस्कृत में जब एक ही अर्थ में साहित्य और काव्य शब्द का प्रयोग होने लगा, तो धीरे-धीरे काव्य शब्द का अर्थ संकुचित होने लगा। आज काव्य का अर्थ केवल कविता है और साहित्य शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाता है। साहित्य का तात्पर्य अब कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा अर्थात गद्य और पद्य की सभी विधाओं से है।

काव्य के स्वरूप को लेकर उसे परिभाषित करने का प्रयास इ.स.पूर्व 200 से अब तक हो रहा है। विविध विद्वानों ने साहित्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसे परिभाषित करने का प्रयास किया। किंतु इन प्रयासों में कहीं अतिव्याप्ति, तो कहीं अव्याप्ति का दोष है। काव्य को परिभाषित करते समय यह विद्वान अपने समकालीन साहित्य तथा साहित्य विषयक धारणाओं से प्रभवित रहे है।

संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजी के विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का विवेचन निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है -

अ. संस्कृत विद्वानों द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषाएं

संस्कृत साहित्य में साहित्य स्वरूप विश्लेषण का प्रारंभ आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से माना जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र का प्रमुख्य विवेच्य विषय नाट्य है, लेकिन प्रसंगवश साहित्य स्वरूप का विश्लेषण भी इसमें हुआ है।

साहित्य स्वरूप को स्वतंत्र रूप से विश्लेषित करने का प्रथम प्रयास 'अग्निपुराने' में देखा जा सकता हे। जिसके रचयिता वेदव्यास जी है।

1. आचार्य भामह

अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में साहित्य की परिभाषा देते हुए कहते है -

'शब्दार्थो सहितौ काव्य'

भामह प्रथम आचार्य है, जिन्होंने काव्य लक्षण देते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। काव्य के लिए शब्द और अर्थ की संगति आवश्यक है। शब्द दो प्रकार के होते है - सार्थक और निरर्थक। काव्य में सार्थक शब्दों का ही महत्व होता है। क्योंकि सार्थक शब्दों में ही अर्थ प्रतिति कराने की

क्षमता होती है। किंतु भामह के इस मत आक्षेप लेते हुए कहा जाता है कि शब्द और अर्थ का सहभाव तो शास्त्रों की पुस्तकों में भी होता है। मात्र उसे हम साहित्य की श्रेणी में नहीं रखते।

2 . आचार्य दंडी

'शरीर तावद् इष्टार्थ व्यावच्छिन पदावली।'

अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में काव्य को परिभाषित करते हुए दंडी ने कहा है कि काव्य का शरीर तो इष्ट अर्थ से युक्त पदावली होता है। यहां इष्टार्थ का अर्थ हैं – अभिप्रेत अर्थ, अपेक्षित अर्थ। इस अर्थ को दंडी ने काव्य न मानकर काव्य का शरीर माना है

दंडी के इस मत पर भी आक्षेप लेते हुए कहा गया है कि दंडी ने यहां काव्य के शरीर के बारे में बताया है। मात्र आत्मा के संबंध में नहीं।

3. आचार्य वामन

'रीतिरात्मा काव्यस्य् विशिष्ट पदावलिः रीति।'

आचार्य वामन के ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र' के अनुसार काव्य की आत्मा रीति होती है और विशिष्ट पदावलि ही रीति है। वामन ने इस परिभाषा में विशिष्ट पदरचना को काव्य का शरीर माना है एवं रीति को काव्य की आत्मा माना है।

वामन के इस मत पर आक्षेप लेते हुए कहा गया है कि उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है और पदरचना भी। जब कि पदरचना काव्य का बाहय पक्ष मात्र है,अर्थात शरीर है। तो वह आत्मा कैसे हुई?

4. आचार्य विश्वनाथ

'वाक्यम् रसात्मकम् काव्य' अथवा

'वाक्यं रसात्मकें काव्यं'

आचार्य विश्वनाथ अपने ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' में कहते है – रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। यहां वाक्य का तात्पर्य उन शब्दों से है, जो अर्थयुक्त हो। अर्थात सार्थक शब्द ही से वाक्य बनते है। उनके 'रसात्मक' शब्द में काव्य की अनुभूति है।

5. आचार्य मम्मट

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृति पुन:क्यापि।'

'काव्यप्रकाश' इस ग्रंथ में आचार्य मम्मट कहते है कि दोषरहित और गुणसहित शब्दार्थ ही काव्य है, जो कभी-कभी अलंकारों से रहित भी होते है।

6. पंडित जगन्नाथ

'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम'

'रसगंगाधर' इस ग्रंथ में जगन्नाथ के द्वारा दी गई व्याख्या कुछ इस प्रकार है - रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। यहां रमणीय का अर्थ है, आनंद प्रकट करने वाला। पंडित जगन्नाथ 'रमणीय' का अर्थ चमत्कार पूर्ण आल्हाद् मानते है।

मात्र जगन्नाथ के मत पर भी आक्षेप लेते हुए कहा गया कि काव्य का निर्माण मात्र रमणीयता को लेकर ही नहीं होता। उसमें दु:ख का भी समावेश होता है।

इस प्रकार संस्कृत के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य की कुछ परिभाषाओं को देखा जा सकता है।

हिंदी के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा

हिंदी के विद्वानों के अनुसार लक्षण ग्रंथों के निर्माण की परंपरा आचार्य केशवदास से मानी जाती है। अत: हिंदी साहित्य शास्त्र का प्रारंभ उन्हीं से माना जायेगा। आदिकाल में काव्य अंगों का भले ही गंभीर अध्ययन न हुआ हो, लेकिन कवियों ने काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, भाषा प्रयोग आदि के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं।

भक्तिकाल के कवियों की उक्तियों में भी साहित्य के लक्षण प्राप्त होते है। जैसे कबीर कहते हैं -

'तुम जीन जानो गीत है, यह नीज ब्रह्म विचार।'

वैसे साहित्य को परिभाषित करने का विचार रीतिकाल में प्रखरता से होने लगा। किन्तु मध्यकालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं में मौलिक चिंतन का अभाव रहा। वैसे संस्कृत के किसी-न-किसी आचार्य का वह अनुवाद करते रहे। इनमें केशवदास, चिंतामणि त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, कवि ठाकुर आदि है।

संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में प्राप्त साहित्य परिभाषाओं के समान हिंदी विद्वानों ने भी विशिष्ट मत या विचार को सामने रख कर साहित्य परिभाषा प्रस्तुत की। जिन्हें निम्नानुसार देखा जा सकता है।

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

जो प्रभावशाली रचना पाठक और श्रोता के मन पर आनंददायी प्रभाव डालती है, कविता कहलाती है। इनके अनुसार काव्य में विलक्षणता होती है, जिसमें आनंद निर्माण करने की क्षमता होती है।

2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल

साहित्य की परिभाषा के संदर्भ में इनके दो मत देखे जा सकते हैं।

1. जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।
2. कविता जीवन और जगत की अभिव्यक्ति है।

3. आचार्य श्यामसुंदर दास

काव्य वह है, जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करें।

4. जयशंकर प्रसाद

काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं होता। वह एक रचनात्मक ज्ञानधारा है।

5. डॉ. नगेंद्र

सरस शब्दार्थ का नाम काव्य है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का प्रारंभ प्लेटो से माना जाता है। तत्कालीन साहित्य और साहित्य विषयक धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में इन परिभाषाओं को समझा जा सकता है।

1. प्लेटो

साहित्य अज्ञान जन्य होता है। साहित्य जीवन से दूर होता है, क्योंकि भौतिक पदार्थ स्वयं ही सत्य की अनुकृति है। फिर साहित्य तो भौतिक पदार्थों की अनुकृति होता है। अत: वह अनुकरण का अनुकरण होता है। साहित्य क्षुद्र मानवीय वासनाओं से उत्पन्न होता है और क्षुद्र वासनाओं को उभारता है। अत: वह हानिकारक होता है। प्लेटो की साहित्य के स्वरूप के संबंध में यह धारणा अपने युगीन परिस्थिति और साहित्य को सामने रखकर तैयार हुई थी।

2. अरस्तु

Poetry is an imitation of nature through medium of language.

अर्थात साहित्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने साहित्य को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देख कर सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से उसका विवेचन किया है।

अरस्तु की इस परिभाषा में अनुकरण से तात्पर्य मात्र नकल करना नहीं, बल्कि पुन: सृजन है। इस दृष्टि से अरस्तु के अनुसार 'साहित्य जीवन और जगत का कलात्मक और भावनात्मक पुन:सृजन है।'

3. विलियम वर्ड्सवर्थ

Poetry is a spontaneous overflow of powerful feeling it takes its origin from emotion.

स्वच्छंदतावादी कवि विलियम्स वर्ड्सवर्थ के अनुसार, प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छृंखलन कविता है। अर्थात भावना का सहज उद्रेक ही कविता है। वर्ड्सवर्थ कविता में सहजता को महत्व देते है। इसमें भावनाएं जब लबालब भर जाती है, तो उसी आधार पर वह सहज प्रकट होती है।

4. सैम्युअल टेलर कॉलरिज

Poetry is the best word in best order.

सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम विधान ही कविता है।

5. पी.वी. शैली

Poetry is the record of the best and happiest movement of the happiest and best minds.

सुखी और मन को आनंद देने वाले क्षणों में सुखद मन के आधार पर प्रकट हुई रचना कविता है।

6. मैथ्यू अर्नाल्ड

Poetry is a criticism of life.

कविता अपने मूल रूप में जीवन की आलोचना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि यह सभी परिभाषाएं विशिष्ट साहित्य, विशिष्ट मत तथा मतवाद से प्रेरित है।

2

संस्कृत साहित्य

ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के वाङ्मय का निर्माण होता आ रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के छोर तक किसी न किसी रूप में संस्कृत का अध्ययन अध्यापन अब तक होता चल रहा है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा का माध्यम होकर भी यह भाषा अनेक दृष्टियों से धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) रही है। इस भाषा में धार्मिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, मानविकी (ह्यूमैनिटी) आदि प्रायः समस्त प्रकार के वाङ्मय की रचना हुई।

संस्कृत भाषा का साहित्य अनेक अमूल्य ग्रंथरत्नों का सागर है, इतना समृद्ध साहित्य किसी भी दूसरी प्राचीन भाषा का नहीं है और न ही किसी अन्य भाषा की परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में इतने दीर्घ काल तक रहने पाई है। अति प्राचीन होने पर भी इस भाषा की सृजन-शक्ति कुण्ठित नहीं हुई, इसका धातुपाठ नित्य नये शब्दों को गढ़ने में समर्थ रहा है।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

विश्वभर की समस्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व-साहित्य की पहली पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। संस्कृत का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी सम्भव नहीं है।

अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की यह जननी है। आज भी भारत की समस्त भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी के स्तन्यामृत से पुष्टि पा रही हैं। पाश्चात्य विद्वान इसके अतिशय समृद्ध और विपुल साहित्य को देखकर आश्चर्य–चकित होते रहे हैं। भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी यदि कोई भाषा है तो वह संस्कृत ही है।

विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वाङ्मय) में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह महत्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, अध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या संस्कृत वाङ्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है। सहस्राब्दियों से इस भाषा और इसके वाङ्मय को भारत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध रखने को इस भाषा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण भारतीय मनीषा ने इस भाषा को अमरभाषा या देववाणी के नाम से सम्मानित किया है।

ऋग्वेदसंहिता–सबसे पुराना ग्रंथ

ऋग्वेदसंहिता के कतिपय मंडलों की भाषा संस्कृतवाणी का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है। ऋग्वेदसंहिता इस भाषा का पुरातनतम ग्रंथ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेदसंहिता केवल संस्कृतभाषा का प्राचीनतम ग्रंथ नहीं है – अपितु वह आर्य जाति की संपूर्ण ग्रंथराशि में भी प्राचीनतम ग्रंथ है। दूसरे शब्दों में, समस्त विश्ववाड्मय का वह (ऋक्संहिता) सबसे पुरातन उपलब्ध ग्रंथ है। दस मंडलों के इस ग्रंथ का द्वितीय से सप्तम मंडल तक का अंश प्राचीनतम और प्रथम तथा दशम मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक उस भाषा की अखंड और अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है। ऋकसंहिता केवल भारतीय वाड्मय की ही अमूल्य निधि नहीं है – वह समग्र आर्यजाति की, समस्त विश्ववाड्मय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विरासत है।

विश्व की प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृतियों को जो अध्ययन हुआ है, उसमें कदाचित् आर्यजाति से संबद्ध अनुशीलन का विशिष्ट स्थान है। इस वैशिष्ट्य का कारण यही ऋग्वेदसंहिता है। आर्यजाति की आद्यतम निवासभूमि, उनकी संस्कृति, सभ्यता, सामाजिक जीवन आदि के विषय में अनुशीलन हुए हैं ऋक्संहिता उन सबका सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत रहा है। पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत भाषा और ऋक्संहिता से परिचय पाने के कारण ही

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन को सही दिशा दी तथा आर्यभाषाओं के भाषाशास्त्रीय विवेचन में प्रौढ़ि एवं शास्त्रीयता का विकास हुआ। भारत के वैदिक ऋषियों और विद्वानों ने अपने वैदिक वाङ्मय को मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा प्राचीनतम रूप में अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित और अधिकृत बनाए रखा। किसी प्रकार के ध्वनिपरक, मात्रापरक यहाँ तक कि स्वर (ऐक्सेंट) परक परिवर्तन से पूर्णत: बचाते रहने का नि:स्वार्थ भाव में वैदिक वेदपाठी सहस्रब्दियों तक अथक प्रयास करते रहे। 'वेद' शब्द से मंत्रभाग (संहिताभाग) और 'ब्राह्मण' का बोध माना जाता था। 'ब्राह्मण' भाग के तीन अंश – (1) ब्राह्मण, (2) आरण्यक और (3) उपनिषद् कहे गए हैं। लिपिकला के विकास से पूर्व मौखिक परंपरा द्वारा वेदपाठियों ने इनका संरक्षण किया। बहुत सा वैदिक वाङ्मय धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। पर आज भी जितना उपलब्ध है उसका महत्व असीम है। भारतीय दृष्टि से वेद को अपौरुषेय माना गया है। कहा जाता है, मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात्कार किया। आधुनिक जगत् इसे स्वीकार नहीं करता। फिर भी यह माना जाता है कि वेदव्यास ने वैदिक मंत्रों का संकलन करते हुए संहिताओं के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया। अत: संपूर्ण भारतीय संस्कृति वेदव्यास की युग-युग तक ऋणी बनी रहेगी।

इसका रचनाकाल ईसा से 5500-5200 पूर्व माना जाता है। भारतीय विद्वानों ने वेदों के रचनाकाल का आरंभ 4500 ई.पू. से माना है, परन्तु यूरोपीय विद्वान इनकी रचना का काल ईसा से 2000-1100 पूर्व मानते है।

वेद, वेदांग, उपवेद

यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग 'वाङ्मय' के लिए है। ऊपर वेद संहिताओं का उल्लेख हुआ है। वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनकी अनेक शाखाएँ थीं जिनमें बहुत सी लुप्त हो चुकी हैं और कुछ सुरक्षित बच गई हैं जिनके संहिताग्रंथ हमें आज उपलब्ध हैं। इन्हीं की शाखाओं से संबद्ध ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् नामक ग्रंथों का विशाल वाङ्मय प्राप्त है। वेदांगों में सर्वप्रमुख कल्पसूत्र हैं जिनके अवांतर वर्गों के रूप में और सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र (शुल्बसूत्र भी है) का भी व्यापक साहित्य बचा हुआ है। इन्हीं की व्याख्या के रूप में समयानुसार धर्मसंहिताओं और स्मृतिग्रंथों का जो प्रचुर वाङ्मय बना, मनुस्मृति का उनमें प्रमुख स्थान है। वेदांगों में शिक्षा-प्रातिशाख्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद शास्त्र से संबद्ध ग्रंथों का वैदिकोत्तर काल से निर्माण होता

रहा है। अब तक इन सबका विशाल साहित्य उपलब्ध है। आज ज्योतिष की तीन शाखाएँ–गणित, सिद्धांत और फलित विकसित हो चुकी हैं और भारतीय गणितज्ञों की विश्व को बहुत सी मौलिक देन हैं। पाणिनि और उनसे पूर्वकालीन तथा परवर्ती वैयाकरणों द्वारा जाने कितने व्याकरणों की रचना की गई जिनमें पाणिनि का व्याकरण–संप्रदाय 2500 वर्षों से प्रतिष्ठित माना गया और आज विश्व भर में उसकी महिमा मान्य हो चुकी है। पाणिनीय व्याकरण को त्रिमुनि व्याकरण भी कहते हैं, क्योंकि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि इन तीन मुनियों के सत्प्रयास से यह व्याकरण पूर्णता को प्राप्त किया। यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्वकाल का ग्रंथ है और उससे भी पहले निरुक्तिविद्या के अनेक आचार्य प्रसिद्ध हो चुके थे। शिक्षाप्रातिशाख्य ग्रंथों में कदाचित् ध्वनिविज्ञान, शास्त्र आदि का जितना प्राचीन और वैज्ञानिक विवेचन भारत की संस्कृत भाषा में हुआ है– वह अतुलनीय और आश्चर्यकारी है। उपवेद के रूप में चिकित्साविज्ञान के रूप में आयुर्वेद विद्या का वैदिकाल से ही प्रचार था और उसके पंडिताग्रंथ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेडसंहिता आदि) प्राचीन भारतीय मनीषा के वैज्ञानिक अध्ययन की विस्मयकारी निधि है। इस विद्या के भी विशाल वाङ्मय का कालांतर में निर्माण हुआ। इसी प्रकार धनुर्वेद और राजनीति, गांधर्ववेद आदि को उपवेद कहा गया है तथा इनके विषय को लेकर ग्रंथ के रूप में अथवा प्रसंगतिर्गत सन्दर्भों में पर्याप्त विचार मिलता है।

दर्शनशास्त्र

वेद, वेदांग, उपवेद आदि के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय में दर्शनशास्त्र का वाङ्मय भी अत्यंत विशाल है। पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय–इन छह प्रमुख आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त पचासों से अधिक आस्तिक–नास्तिक दर्शनों के नाम तथा उनके वाङ्मय उपलब्ध हैं जिनमें आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत्पदार्थमीमांसा, तत्त्वमीमांसा आदि के सन्दर्भ में अत्यंत प्रौढ़ विचार हुआ है। आस्तिक षड्दर्शनों के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में व्यास, जैमिनि, कपिल, पतंजि, कणाद, गौतम आदि के नाम संस्कृत साहित्य में अमर हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों में शैव, वैष्णव, तांत्रिक आदि सैकड़ों दर्शन आते हैं। आस्तिकेतर दर्शनों में बौद्धदर्शनों, जैनदर्शनों आदि के संस्कृत ग्रंथ बड़े ही प्रौढ़ और मौलिक हैं। इनमें गंभीर विवेचन हुआ है तथा उनकी विपुल ग्रंथराशि आज भी उपलब्ध है। चार्वाक, लोकायतिक, गार्हपत्य आदि नास्तिक दर्शनों का उल्लेख भी मिलता

है। वेदप्रामण्य को मानने वाले आस्तिक और तदंतर नास्तिक के आचार्यों और मनीषियों ने अत्यंत प्रचुर मात्रा में दार्शनिक वाङ्मय का निर्माण किया है। दर्शन सूत्र के टीकाकार के रूप में परमादृत शंकराचार्य का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है।

लौकिक साहित्य

कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्यशास्त्र आदि संस्कृत के कुछ ऐसे अमूल्य ग्रंथरत्न हैं – जिनका समस्त संसार के प्राचीन वाङ्मय में स्थान है।

वैदिक वाङ्मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। महाभारत का आज उपलब्ध स्वरूप एक लाख पद्यों का है। प्राचीन भारत की पौराणिक गाथाओं, समाजशास्त्रीय मान्यताओं, दार्शनिक आध्यात्मिक दृष्टियों, मिथकों, भारतीय ऐतिहासिक जीवनचित्रों आदि के साथ-साथ पौराणिक इतिहास, भूगोल और परंपरा का महाभारत महाकोश है। वाल्मीकि रामायण आद्य लौकिक महाकाव्य है। उसकी गणना आज भी विश्व के उच्चतम काव्यों में की जाती है। इनके अतिरिक्त अष्टादश पुराणों और उपपुराणादिकों का महाविशाल वाङ्मय है जिनमें पौराणिक या मिथकीय पद्धति से केवल आर्यों का ही नहीं, भारत की समस्त जनता और जातियों का सांस्कृतिक इतिहास अनुबद्ध है। इन पुराणकार मनीषियों ने भारत और भारत के बाहर से आयात सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक ऐक्य की प्रतिष्ठा का सहस्राब्दियों तक सफल प्रयास करते हुए भारतीय संस्कृति को एकसूत्रता में आबद्ध किया है।

संस्कृत के लोकसाहित्य के आदिकवि वाल्मीकि के बाद गद्य-पद्य के लाखों श्रव्यकाव्यों और दृश्यकाव्यरूप नाटकों की रचना होती चली जिनमें अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गए। पर जो स्वल्पांश आज उपलब्ध है, सारा विश्व उसका महत्व स्वीकार करता है। कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त है। अश्वघोष, भास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कवि और नाटककारों को अपने अपने क्षेत्रों में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त है। सर्जनात्मक नाटकों के विचार से भी भारत का नाटक साहित्य अत्यंत संपन्न और महत्वशाली है। साहित्यशास्त्रीय समालोचन पद्धति के विचार से नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र

के अत्यंत प्रौढ़, विवेचनपूर्ण और मौलिक प्रचुरसख्यक कृतियों का संस्कृत में निर्माण हुआ है। सिद्धांत की दृष्टि से रसवाद और ध्वनिवाद के विचारों को मौलिक और अत्यंत व्यापक चिंतन माना जाता है। स्तोत्र, नीति और सुभाषित के भी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि उन सभी विषयों के प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्मित हुए हैं जिनका किसी भी प्रकार से आदिमध्यकालीन भारतीय जीवन में किसी पक्ष के साथ संबंध रहा है। ऐसा समझा जाता है कि द्यूतविद्या, चौरविद्या आदि जैसे विषयों पर ग्रंथ बनाना भी संस्कृत पंडितों ने नहीं छोड़ा था। एक बात और थी। भारतीय लोकजीवन में संस्कृत की ऐसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा रही है कि ग्रंथों की मान्यता के लिए संस्कृत में रचना को आवश्यक माना जाता था। इसी कारण बौद्धों और जैनों, के दर्शन, धर्मसिद्धान्त, पुराणगाथा आदि नाना पक्षों के हजारों ग्रंथों को पालि या प्राकृत में ही नहीं संस्कृत में सप्रयास रचना हुई है। संस्कृत विद्या की न जाने कितनी महत्वपूर्ण शाखाओं का यहाँ उल्लेख भी अल्पस्थानता के कारण नहीं किया जा सकता है। परंतु निष्कर्ष रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन संस्कृत भाषा–अत्यंत समर्थ, संपन्न और ऐतिहासिक महत्व की भाषा है। इस प्राचीन वाणी का वाङ्मय भी अत्यंत व्यापक, सर्वतोमुखी, मानवतावादी तथा परमसंपन्न रहा है। विश्व की भाषा और साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का स्थान अत्यंत महत्वशाली है। समस्त विश्व के प्राच्यविद्याप्रेमियों ने संस्कृत को जो प्रतिष्ठा और उच्चासन दिया है, उसके लिए भारत के संस्कृतप्रेमी सदा कृतज्ञ बने रहेंगे।

प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाएँ

साहित्यकार	प्रसिद्ध कृति	रचनाकाल
भरत मुनि	नाट्यशास्त्रम्	प्रथम शती
भामह	काव्यालंकार	सप्तम शतक
दण्डी	काव्यादर्श	सप्तम शती
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह अष्ठम शती	
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति अष्ठम शती	
रुद्रट	काव्यालंकार	नवम शती
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	नवम शती
राजशेखर	काव्यमीमांसा	दशम शती

भट्टनायक	हृदयदर्पण	दशम शती
अभिनवगुप्त	अभिनवभारती,लोचनं चदशम शती	
धनंजय	दशरूपकम्	दशम शती
भोज	सरस्वतीकण्ठाभरणम् श्रृंगारप्रकाश	एकादश शती
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक	एकादश शती
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचारचर्चा	एकादश शती
मम्मट	काव्यप्रकाश	एकादश शती
रुय्यक	अलंकारसर्वस्वम्	द्वादश शती
हेमचन्द्र	काव्यानुशासनम्	द्वादश शती
जयदेव	चन्द्रालोक	त्रयोदश शती
विद्यानाथ	एकावली	त्रयोदश शती
विद्यानाथ	प्रतापरुद्रीयम्	त्रयोदश शती
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	त्रयोदश शती
केशवमिश्र	अलंकारशेखर	षोडश शती
अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा	षोडश शती
जगन्नाथ	रसगंगाधर	सप्तदश शती
चूडामणिदीक्षित	काव्यदर्पण	सप्तदश शती

संस्कृत साहित्य की विशेषताएँ

संस्कृत साहित्य की महानता को प्रसिद्ध भारतविद जुआन मस्कारो (Juan Mascaro) ने इन शब्दों में वर्णन किया है–

संस्कृत साहित्य की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है–

अति विस्तृत रचना-काल

संस्कृत साहित्य की रचना अति प्राचीन काल (हजारों वर्ष ईसापूर्व) से लेकर अब तक निरन्तर चली आ रही है।

अति-विस्तृत क्षेत्र

संस्कृत साहित्य की रचना भारत और भारत से बाहर के देशों में हुई है। जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं वे ऊतर-से दक्षिण और पूर्व-से-पश्चिम तक कई हजार किमी के विस्तृत क्षेत्र से हैं।

विशालता

संस्कृत साहित्य इतना विशाल और विविधतापूर्ण है कि 'संस्कृत में क्या-क्या है?' - यह पूछने के बजाय प्राय: पूछा जाता है कि 'संस्कृते किं नास्ति?' (संस्कृत में क्या नहीं है?)। अनुमान है कि संस्कृत की पाण्डुलिपियों की कुल संख्या 3 करोड़ से भी अधिक होगी, यह संख्या ग्रीक और लैटिन पाण्डुलिपियों की सम्मिलित संख्या से सौ गुना से अधिक है। यह इतनी अधिक है कि बहुत सी पाण्डुलिपियाँ अभी तक सूचीबद्ध नहीं की सकी है, उन्हे पढ़ना और उनका अनुवाद आदि करना बहुत दूर की बात है।

विविधता

संस्कृत साहित्य की विविधता आश्चर्यचकित करने वाली है। इसमें धर्म और दर्शन, नाटक, कथा, काव्य आदि तो हैं ही, इसमें गणित, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, रसायन विज्ञान, रसशास्त्र, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, शिल्प आदि में रचित ग्रन्थों की संख्या कई लाख है। इसी तरह व्याकरण, काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, संगीत, कोश, कला, राजनीति, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, सुभाषित के भी असंख्य ग्रन्थ हैं।

सातत्य

प्राप्त पाण्डुलिपियों से स्वयं स्पष्ट है कि भारतीय महाखण्ड पर इतने सारे दैवी एवं मानवी आपदाओं (विदेशी आक्रमणों) के बावजूद हर कालखण्ड में संस्कृत साहित्य की रचना निर्बाध होती रही।

प्रगतिशीलता

मौलिकता

किसी दूसरी भाषा से अनूदित संस्कृत के ग्रन्थों की संख्या नहीं के बाराबर है। इसके विपरीत संस्कृत के ग्रन्थों का विश्व भर में आदर थाध्है जिसके कारण अनेकों संस्कृत ग्रन्थों का अरबी, फारसी, तिब्बती, चीनी आदि में अनुवाद हुआ। हाँ संस्कृत के किसी ग्रन्थ पर अन्य लोगों द्वारा संस्कृत में ही टीका ग्रन्थ (भाष्य) लिखने की परम्परा अवश्य रही है।

उत्कृष्टता

आज के युग के वैज्ञानिको ने भी यह माना है कि नई पीढ़ी के कम्प्यूटर के लिये संस्कृत ही सर्वोत्तम भाषा है।

वैज्ञानिकता

संस्कृत साहित्य अधिकांशतः अधार्मिक (या सेक्युलर) प्रकृति का है जिसे आज के युग के हिसाब से भी वैज्ञानिक कहा जा सकता। उसमें गणित, खगोलविज्ञान है, आयुर्विज्ञान (मेडिसिन), भाषाविज्ञान, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्रै, रसशास्त्र (रसायन) है। गणित में भी केवल अंकगणित ही नहीं है, ज्यामिति भी है, ठोस ज्यामिति भी, बीजगणित (अल्जेब्रा), त्रिकोणमिति भी और कैलकुलस भी है।

पंथनिरपेक्षता

इतना प्राचीन होने के बावजूद संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग सेक्युलर है।

3

पालि भाषा का साहित्य

पालि साहित्य में मुख्यत: बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। किंतु इसका कोई भाग बुद्ध के जीवनकाल में व्यवस्थित या लिखित रूप धारण कर चुका था, यह कहना कठिन है।

पालि साहित्य की विकासयात्रा

यद्यपि त्रिपिटक में ही कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे बुद्ध के जीवनकाल में ही धर्म के कुछ प्रकरणों के व्यवस्थित पाठ किए जाने का पता चलता है। उदाहरणार्थ, उदान में वर्णन है कि एक बार सीण नामक भिक्षु से स्वयं भगवान ने पूछा कि तुमने धर्म को कैसे समझा? इसके उत्तर में उस भिक्षु ने 16 अष्टक वर्गों को पूरे स्वर के साथ गाकर सुना दिया। इसकी भगवान ने प्रशंसा भी की। विनयपिटक आदि ग्रंथों में बहुश्रुत, धर्मधर, विनयधर, मातृकाधर तथा पंचनेकायिक, भाणक, सुत्तंतिक जैसे विशेषणों का प्रयोग मिलता है, जिनसे स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेशों के धारण, पारण की परंपरा उनके जीवनकाल से ही चल पड़ी थी। इस परंपरा के आधार पर बुद्ध के उपदेशों को सुव्यवस्थित साहित्यिक रूप देने के लिए तीन बार संगीतियाँ की जाने के उल्लेख चुल्लवग्ग, दीपवंश, महावंश आदि ग्रंथों में मिलते हैं। प्रथम संगीति बुद्धनिर्वाण के चार मास पश्चात् ही राजगृह में हुई जिनमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया, जिसके कारण वह पंचशतिका नाम से भी प्रसिद्ध है। इसकी अध्यक्षता महाकश्यप ने की और उन्होंने

बुद्ध के साक्षात् शिष्य भिक्षु उपालि से विनय संबंधी तथा स्थविर आनंद से सुत्त संबंधी प्रश्न पूछ-पूछकर अन्य भिक्षुओं के अनुमोदन से उक्त विषयों का संग्रह किया। इसी प्रकार की दूसरी संगीति बुद्ध निर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् वैशाली में हुई जिसमें 700 भिक्षु सम्मिलित हुए और इसीलिए वह सप्तशतिका के नाम से विख्यात हुई। इसमें वैशाली के भिक्षुओं के आचरण में अनेक दोष दिखाकर उन्हें विनय के विरुद्ध ठहराया गया और अनुमानतः विनयपिटक में विशेष व्यवस्था लाई गई। बुद्धघोष के मतानुसार तो इसी संगीति द्वारा बुद्ध वचनों का त्रिपिटक, पाँच निकाय, नौ अंग तथा चौरासी हजार धर्मस्कंधों में वर्गीकरण किया गया। तीसरी संगीति बुद्धनिर्वाण के 226 वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुई। इसकी अध्यक्षता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की। यह सम्मेलन नौ मास तक चला और उसमें बुद्धवचनों को अंतिम स्वरूप दिया गया। इसी बीच मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्यु की रचना की जिसमें 18 मिथ्यादृष्टि बौद्ध संप्रदायों की मान्यताओं का निराकरण किया। इस रचना को भी अभिधम्मपिटक में सम्मिलित कर लिया गया। इस संगीति का उल्लेख चुल्लवग्ग में नहीं है और न तिब्बती या चीनी महायान संप्रदाय के साहित्य में। अशोक के भाब्रू के लेख, जिसमें सात प्रकरणों के नाम भी उद्धृत हैं, उसमें, अथवा अन्य धर्मलिपियों में ऐसी किसी संगीति का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। इस कारण इसकी ऐतिहासिकता में कीथ, वैलेसर आदि विद्वानों को संदेह है। किंतु रीजडेविड्स, विंटरनित्ज तथा गाइगर आदि विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है। जिस संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में प्राचीन उल्लेख एवं आधुनिक विद्वान् एकमत है, वह है वैशाली की द्वितीय संगीति। इन संगीतियों तथा अन्य प्रयत्नों के फलस्वरूप पालि त्रिपिटक का जो स्वरूप प्राप्त हुआ एवं जिस रूप में वह हमें आज उपलब्ध है, वह निम्न प्रकार है–

मूल पालि साहित्य या पिटक

'मूल पालि साहित्य तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें पिटक कहा गया है – 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। इनमें से प्रत्येक पिटक के भीतर अपने अपने विषय से संबंध रखने वाली अनेक छोटी-बड़ी रचनाओं का समावेश है।

पालि के इन तीन पिटकों में ई. पूर्व छठी शती में हुए भगवान बुद्ध के विचारों और उपदेशों का एक विशेष शैली में संकलन किया गया है। तीनों

पिटकों में परस्पर तारतम्य है। विषय का मूलाधार सुत्तपिटक है जिसमें भगवान के उपदेशों को श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए सरल से सरल, रोचक कथात्मक शैली का आलंबन लिया गया है। यहाँ वस्तु को संक्षेप में कहने का प्रयत्न नहीं किया गया। उद्देश्य है नई-नई बातों को सामान्य श्रोताओं के ग्रहण योग्य बनाना और इसीलिए यहाँ उपदेश के मुख्य भाग की बार-बार पुनरावृत्ति की गई है। प्रसंगवश इन सुत्तों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी आ गया है, जो प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, दीघ निकाय के समंफल सुत्त, ब्रह्मजाल सुत्त एवं महापरिनिब्बान सुत्त में बुद्ध के समसामयिक धर्मप्रवर्तकों जैसे मंखलिगोसाल, पकुधकच्चायन, अजित केस कंबलि, संजय बलट्ठिपुत्त निगंठनातपुत्त, आदि के आचार-विचारों तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म संप्रदायों की बौद्ध दृष्टि से आलोचना पाई जाती है और साथ ही उन-उन विषयों पर बौद्ध मान्यता का प्रतिपादन भी पाया जाता है।

सामाजिक चित्रण सुत्तपिटक में बिखरा पड़ा है, तथापि खुद्दक निकाय के अंतर्गत जातकों में इसकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। सुत्तों में स्थान-स्थान पर बुद्धकालीन मगध, विदेह, कोशल, काशी आदि 16 जनपदों के राजाओं उनके परस्पर संबंधों एवं लड़ाई-झगड़ों और दाँव-पेंचों के उल्लेख भरे पड़े हैं। सुत्तों के उपदेशों में जिस बौद्ध आचार के संकेत पाए जाते हैं, उन्हीं की भिक्षुओं के योग्य सदाचार के नियमों के रूप में विधि-निषेध-प्रणाली से व्यवस्था विनय पिटक में भी की गई है। इसी प्रकार सुत्तों में जिस तत्त्वचिंतन के बीज सन्निहित हैं, उनका दार्शनिक शब्दावली में सैद्धांतिक रूप से प्रतिपादन और विवेचन अभिधम्म पिटक में किया गया है। इस परस्पर आनुषांगिकता के कारण बौद्धधर्म का पूरा सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित परिज्ञान बिना त्रिपिटक के अवलोकन के नहीं हो सकता। यह पालि त्रिपिटक विषय की दृष्टि से स्वयं बुद्ध भगवान के उपदेशों पर आधारित है। उपलब्ध ग्रंथ रचना की दृष्टि से ई. पूर्व तृतीय शताब्दी से पश्चात् का सिद्ध नहीं होता। बौद्ध परंपरानुसार अशोक सम्राट् के काल में ही उनके पुत्र महेंद्र स्वयं बौद्ध भिक्षु बनकर इस साहित्य को लंका ले गए और वहाँ प्रथम शती ई. में राजा बट्टगामणी के राज्यकाल में उसे वह लिखित रूप प्राप्त हुआ, जिसमें वह आज हमें मिलता है। तथापि उसमें ऐसी कोई बात हमें नहीं मिलती जो बीच की दो तीन शताब्दियों के काल में लंका की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उसमें आई कही जा सके।

विनयपिटक

अपने नामानुसार विनयपिटक का विषय भिक्षुओं के पालने योग्य सदाचार के नियम उपस्थित करना है। इसके तीन अवांतर विभाग हैं – सुत्तविभंग, खंधक और परिवार। सुत्तविभंग के पुनः दो उपविभाग हैं – महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार अपने इन उपविभागों की अपेक्षा विनयपिटक पाँच भागों में विभक्त है।

सुत्तपिटक

सुत्तपिटक अपने विषय, विस्तार तथा रचना की दृष्टि से त्रिपिटक का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसमें ऐसे सुत्तों का संग्रह किया गया है, जो परंपरानुसार या तो स्वयं भगवान बुद्ध के कहे हुए हैं या उनके साक्षात् शिष्य द्वारा उपदिष्ट हैं और जिनका अनुमोदन स्वयं भगवान बुद्ध ने किया है। सुत्त का संस्कृत रूपांतर सूत्र किया जाता है। किंतु प्रस्तुत सुत्तों में सूत्र के वे लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते जो संस्कृत की प्राचीन सूत्ररचनाओं, जैसे वैदिक साहित्य के श्रौत सूत्र, गृह्य एवं धर्मसूत्र आदि में पाए जाते हैं। सूत्र का विशेष लक्षण है अति संक्षेप में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना। उसमें पुनरुक्ति का सर्वथा अभाव अविद्यमान है। किन्तु यहाँ संक्षिप्त शैली के विपरीत सुविस्तृत व्याख्यान तथा मुख्य बातों की बार-बार पुनरावृत्ति की शैली अपनाई गई है। इस कारण सुत्त का सूत्र रूपांतर उचित प्रतीत नहीं होता। विचार करने से अनुमान होता है कि सुत्त का अभिप्राय मूलतः सूक्त से रहा है। वेदों के एक-एक प्रकरण को भी सूक्त ही कहा गया है। किसी एक बात के प्रतिपादन को सूक्त कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

सुत्तपिटक के पाँच भाग हैं जिन्हें निकाय कहा गया हैं – दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। दीर्घनिकाय तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम सीलक्खंधवग्ग में 13 सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में 10 तथा तीसरे पाटिकवग्ग में 11। इस प्रकार दीर्घनिकाय में 34 सुत्त हैं। ये सुत्त अन्य निकायों में संगृहीत सुत्तों की अपेक्षा विस्तार में अधिक लंबे है और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है।

मज्झिमनिकाय में मध्यमविस्तार के 152 सुत्त हैं, जो 15 वर्गों में विभक्त हैं –

(1) मूलपरियाय (2) सीहनाद (3) ओपम्म (4) महायमक (5) चूलयमक

(6) गहपति (7) भिक्खू (8) परिव्वाजक (9) राज (10) ब्राह्मण (11) देवदह (12) अनुपद (13) (14) विभंग और (15) षडायतन। इनमें से 14वें वर्ग विभंग में 12 सुत्त हैं और शेष सब में दस-दस।

संयुत्तनिकाय में छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है। इसमें कुल 56 सुत्त या संयुत्त हैं, जो इन पाँच वर्गों में विभाजित हैं -

(1) सगाथ (2) निदान (3) खंध (4) षडायतन और (5) महावग्ग।

अंगुत्तर निकाय की अपनी एक विशेषता है। इसमें सुत्तों का संग्रह एक व्यवस्था के अनुसार किया गया है। आदि में ऐसे सुत्त हैं जिनमें बुद्ध भगवान के एक संख्यात्मक पदार्थो विषयक उपदेशों का संग्रह है, तत्पश्चात् दो पदार्थों विषयक सुत्तों का और फिर तीन, चार आदि। इसी क्रम से इस निकाय के भीतर एककनिपात, दुकनिपात एवं तिक, चतुवक, पंचक, छक्क, सत्तक, अट्ठक, नवक, दसक और एकादसक इन नामों के ग्यारह निपातों का संकलन है। ये निपात पुनः वर्गों में विभाजित हैं, जिनकी संख्या निपात क्रम से 21, 16, 16, 26, 12, 9, 9, 9, 22 और 3 है। इस प्रकार 11 निपातों में कुल वर्गों की संख्या 169 है। प्रत्येक वर्ग के भीतर अनेक सुत्त हैं जिनकी संख्या एक वर्ग में कम से कम 7 और अधिक से अधिक 262 है। इस प्रकार अंगुत्तर निकाय से सुत्तों की संख्या 2308 है।

खुद्दक निकाय में विषय तथा रचना की दृष्टि से प्रायः सर्वथा स्वतंत्र 15 रचनाओं का समावेश है, जिनके नाम हैं -

(1) खुद्दक पाठ (2) धम्मपद (3) उदान (4) इतिवुत्तक (5) सुत्तनिपात (6) विमानवत्थु (7) पेतवत्थु (8) थेरगाथा (9) थेरीगाथा (10) जातक 11) निद्देस (12) पटिसंभिदामग्ग (13) अपादान (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक।

अभिधम्मपिटक

पालि त्रिपिटक के तीसरे भाग अभिधम्मपिटक में भगवान बुद्ध के दर्शनात्मक विचारों का विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है तथा तात्विक दृष्टि से उनकी सूचियाँ और परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। इस पिटक में निम्न सात ग्रंथों का समावेश है-

(1) धम्म्संगणि (2) विभंग (3) कथावत्थु (4) पुग्गलपंञ्ञत्ति (5) धातुकथा (6) यमक और (7) पठ्ठान।

धम्मसंगणि उसकी मातिका (विषयसूची) के अनुसार दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 22 तिक हैं जिनमें से प्रत्येक में तीन तीन विषयों का विवेचन किया गया हैं। दूसरे विभाग में 100 दुक हैं और प्रत्येक दुक में विधान ओर निषेध रूप से दो दो विषयों का प्ररूपण किया गया है। ये दुक 12 वर्गों में विभाजित हैं जिनके नाम हैं –

(1) हेतु (2) प्रत्ययादि (3) आश्रव (4) संयोजन (5) ग्रंथ (6) ओध

(7) योग (8) नीवरण (9) परामर्श (10) विस्तृत मध्यम दुक (11) उपादान और (12) क्लेश।

इस प्रकार धम्मसंगणि के तिकों और दुकों की संख्या 122 है। इनमें से प्रथम तिक कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मविषयक है, जो सबसे महत्वपूर्ण है और उसके विषय का प्ररूपण (1) चित्तुपपाद (2) रूप (3) निक्क्षेप और (4) अत्थुद्धार इन चार कांडों में किया गया है।

विभंग की विषयवस्तु 18 विभागों में विभाजित है।

कथावत्थु में 23 अध्यायों के भीतर 216 प्रश्नोत्तर हैं जिनमें विरोधी संप्रदायों के सिद्धांतों का खंडन किया गया है।

पुग्गलपण्णत्ति में 10 अध्याय हैं जिनमें क्रमशः एक-एक प्रकार के, दो-दो प्रकार के आदि बढ़ते क्रम में दसवें अध्याय में 10, 10 प्रकार के पुद्गलों अर्थात् व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। व्यक्तियों का विभाजन पृथग्जन, सम्यक् संबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य आदि रूप से किया गया है।

धातुकथा की रचना का मूलाधार विभंग है, क्योंकि उसी के प्रथम तीन अर्थात् स्कंध, आयतन और धातु विभंगों का ही यहाँ अधिक सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसी कारण इस ग्रंथ का दूसरा नाम खंब-आयतन-धातुकथा भी पाया जाता है। ग्रंथ में इन्हीं तीन का संबंध धर्मों के साथ बैठाकर बताया गया है। मातिकानुसार इन धर्मों की संख्या 125 है, जो इस प्रकार हैं –

5 स्कंध, 12 आयतन, 18 धातुएँ, 4 सत्य, 22 इंद्रियाँ, 12 प्रतीत्यसमुत्पाद, 4 स्मृतिप्रस्थान, 4 सम्यक् प्रधान, 4 ऋद्धिपाद, 4 ध्यान, 4 अपरिमाण, 5 इंद्रियाँ, 5 बल, 7 बोध्यंग, 8 आर्यमार्ग के अंग तथा स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त और अधिमोक्ष।

इनका परस्पर संबध प्रश्नोत्तर की शैली से 14 अध्यायों में किया गया है।

यमक में धर्मों का संबंध विशेष विषयों के साथ परस्पर विपरीत रूप में प्रश्नोत्तर शैली से समझाया गया है और इसी युगल प्रश्नात्मक रीति के कारण इस रचना का यमक नाम सार्थक है। जैसे (1) क्या सभी कुशलधर्म कुशलमूल हैं? क्या सभी कुशलमूल कुशलधर्म हैं? इत्यादि। इसी पद्धति से यमक में अभिधम्मपिटक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सुनिश्चित व्याख्या देने का प्रयत्न किया गया है। यह रचना इन 10 यमकों में विभक्त है –

(1) मूल (2) खंघ (3) आयतन (4) धातु, (5) सच्च (6) संसार (7) अनुसय (8) चित्त (9) धम्म और (10) इंद्रिय।

पट्ठाण में बौद्ध तत्त्वचिंतन के आधारभूत प्रतीत्य-समुत्पाद-सिद्धांत का एक विशेष शैली में बड़े विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। ग्रंथ के मुख्य चार भाग हैं –

(1) अनुलोम पट्ठाण (प्रत्यय स्थान), (2) पच्चनिय पट्ठाण

(3) अनुलोम-पच्चनिय-पट्ठाण और (4) पच्चनिय-अनुलोम-पट्ठाण।

इन चारों भागों में धम्मसंगणि में निर्दिष्ट 22 तिकों और 100 दुकों का 24 प्रत्ययों से संबंध निम्न छह पट्ठाणों द्वारा समझाया गया है। (1) तिक पं. (2) दुक पं. (3) दुक-तिक पं. (4) तिक-दुक पं. (5) तिक-दिक पं. और (6) दुक-दुक प.। इन छह पट्ठाणों का पूर्ववत् चार विभागों में प्ररूपण होने से संपूर्ण ग्रंथ 24 पट्ठाणों में विभक्त हो जाता है।

अनुपालि या अनुपिटक

उपर्युक्त त्रिपिटक साहित्य का संकलन प्राय: ई.पू. तीसरी शती में पूर्ण हो गया था, किंतु पालि साहित्य का सृजन इसके पश्चात् भी चलता रहा। यद्यपि यह अनुपालि साहित्य विषय की दृष्टि से प्राय: पूर्णत: त्रिपिटक के अंतर्गत ज्ञान का ही अनुकरण करता है, तथापि स्वरूप एवं शैली में समय की गति के अनुसार उसमें विकास दिखाई देता है। ई.पू. प्रथम शती के लगभग नेत्त्रिकरण नामक ग्रंथ लिखा गया जिसमें अभिधम्मपिटक के विषय का ही कुछ अधिक सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। इसमें 16 हार, 5 नय और 18 मूल पदों के द्वारा बौद्ध दर्शन की परिभाषाओं को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके कर्ता का नाम कच्चान है। इसी प्रकार की एक दूसरी रचना इसी काल के लगभग की पेटकोपदेश है जिसमें नेत्तिप्रकरण की ही विषयवस्तु को कुछ दूसरी रीति से

उपस्थित किया गया है, जिसमें प्रधानता उन चार आर्य सत्यों की है, जो बुद्ध के उपदेशों के मूलाधार हैं। प्रायः इसी काल की तीसरी रचना है – मिलिंद-पंहों जो पालि साहित्य में अपनी विशेषता रखती है व ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें साकल (सियालकोट, पंजाब) के नरेश मिलिंद और भिक्षु नागसेन से बीच हुआ वार्तालाप वर्णित है। मिलिंद उस यवन नरेश मिनादर के नाम का ही रूपांतर माना गया है जिसने ई. पू. द्वितीय शती के मध्य में भारत पर आक्रमण किया तथा पंजाब प्रदेश में अपना राज्य जमाया था। प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार यह राजा बड़ा विद्वान् और दार्शनिक विषयों में रुचि रखने वाला था। उसने भिक्षु नागसेन से बड़े पैने दार्शनिक प्रश्न किए, जिसके उत्तर भी नागसेन ने बड़ी चतुराई से सुंदर दृष्टांतों द्वारा उनकी पुष्टि करते हुए दिए हैं। ग्रंथ में सात अध्याय हैं –

(1) बाहिर कथा (2) लक्खणपंहो (3) विमतिछेदन-पंहो (4)मेंडकपंहो (5) अनुमानपंहो (6) द्युतंग कथा और (7) ओपम्म-कथा-पंहो।

इनमें से प्रथम तीन अध्याय ही ग्रंथ का मूल भाग माना जाता है। शेष चार अध्याय पीछे जोड़े गए प्रतीत होते हैं। इसके अनेक कारण हैं- एक तो तीसरे अध्याय में ग्रंथ के पुनः प्रारंभ की सूचना है, दूसरे, बुद्धघोष के अवतरण प्रायः तीन ही अध्यायों से लिए गए हैं और तीसरे इस ग्रंथ का जो चीनी अनुवाद 400 ई. के लगभग किया गया था, उसमें केवल ये तीन ही अध्याय पाए जाते हैं। यह रचना शैली में बड़ी रोचक तथा बौद्ध सिद्धांत के ज्ञान के लिए अपने ढंग की अद्वितीय है।

अट्ठकथाएँ

इन रचनाओं के पश्चात् अट्ठकथाओं का युग प्रारंभ होता है। श्रुत परंपरानुसार जब महेंद्र और संघमित्र द्वारा पालि त्रिपिटक लंका में पहुँचा और बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ा, उन मूल ग्रंथों पर सिंहली भाषा में टीका रूप अट्ठकथाएँ लिखी गई। ये अट्ठकथाएँ अब उपलब्ध नहीं है। अनुमानतः इसका कारण उन अट्ठकथाओं की रचना हो जाने से क्रमशः उन मूल अट्ठकथाओं का अध्ययन अध्यापन छूट जाना ही है। इन नई पालि अट्ठकथाओं के कर्ता आचार्य बुद्धघोष का नाम पालि साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने जिन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है तथा जिनके अवतरण अपनी अट्ठकथाओं में लिए हैं, उनमें मुख्य हैं-

(1) महाअट्ठकथा (सुत्तपिटक पर), (2) महापच्चरी (अभिधम्म पर), (3) कुरुंदी (विनयपिटक पर),(4) अंधट्ठकथा, (5) संक्षेप-अट्ठकथा और (6) समानट्ठकथा।

अंतिम चार अट्ठकथाएँ निकायों अथवा उनके किन्हीं विषयों के विशेष व्याख्यान के रूप में प्रतीत होते हैं। इन मूल अट्ठकथाओं के अभाव में यह कहना तो कठिन है कि कितने अंश में बुद्धघोष ने उनका अनुकरण किया और कितना मौलिक रूप से किया, तथापि उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने मूल अट्ठकथाओं को अपने त्रिपिटक के विशाल ज्ञान द्वारा बहुत ही पल्लवित किया होगा। उनकी अट्ठकथाएँ विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्मपिटक के अधिकांश भागों पर मिलती हैं, जिनकी संख्या 16 है। इन अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धघोष की एक विशिष्ट रचना है विसुद्धिमग्ग, जिसे बौद्ध दर्शन का ज्ञानकोश कहा जा सकता है। अट्ठकथाओं में स्वयं बुद्धघोष के कथनानुसार उन्होंने विसुद्धिमग्ग में दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर इन चारों निकायों का सार भर दिया है। श्रुत परंपरानुसार उन्होंने विसुद्धिमग्ग को अपनी अट्ठकथाओं से पूर्व उनकी रचना को अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए ही लिखा था। इस ग्रंथ में कुल 23 परिच्छेद हैं। प्रथम दो परिच्छेदों का विषय है 'समाधि' और शेष परिच्छेदों में 'प्रज्ञा' का व्याख्यान किया गया है।

बुद्धघोष के पश्चात् अट्ठकथाओं की परंपरा को उनके प्राय: समसामयिक दो आचार्यों बुद्धदत्त और धम्मपाल ने परिपुष्ट किया। बुद्धदत्त ने बुद्धघोष कृत समंतपासादिका नामक विनयपिटक की अट्ठकथा का सार अपनी उत्तरविनिश्चय और विनयविनिश्चय नामक दो पद्यात्मक रचनाओं में उपस्थित किया तथा बुद्धघोष की अभिधम्म की अट्ठकथाओं के आधार पर अभिधम्मावतार नामक गद्य-पद्य-मिश्रित ग्रंथ की रचना की। इसमें मौलिकता यह है कि जहाँ बुद्धघोष ने रूप, वेदनादि पाँच स्कंधों के द्वारा धर्मों का विवेचन किया है, वहाँ बुद्धदत्त ने चित्तर, चेतसिक, रूप और निर्वाण इस चार प्रकार के वर्गीकरण को अपनाया है। इसी वर्गीकरण को उन्होंने अपनी रूपारूप विभाग नामक रचना में रखा है। बुद्धदत्त की एक और रचना है मधुरत्थ विलासिनी, जो बुद्धवंस की अट्ठकथा है। धम्मपाल ने सात अट्ठकथाएँ लिखी है। खुद्दकनिकाय के अंतर्गत जिन उदान, इतिषुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एव चरियापिटक नामक ग्रंथों पर बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं, उन पर धम्मपाल ने परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा लिखी है। इसी प्रकार नेत्तिप्रकरण पर अत्थसंवण्णणा और उसी पर

लीनत्थवण्णणा नामक टीका, विसुद्धिमग्ग पर परमत्थमंजूषा, बुद्धघोष की चार निकायों की अट्ठकथाओं पर लीनत्थपकासिनी नामक टीका, जातकट्ठकथा की टीका तथा बुद्धदत्त कृत मधुरत्थविलासिनी की टीका लिखी। इन सब रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है उनकी विसुद्धिमग्ग की टीका। शेष रचनाओं में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यद्यपि उक्त त्रिपिटक व उनकी अट्ठकथाओं की रचना के पश्चात् बुद्धवचन के संबंध में अधिक कुछ कहना शेष नहीं रहा, तथापि इस अट्ठकथा नामक टीका साहित्य की रचना बुद्धघोष युग (ई. 400 से 1100 तक) में बराबर होती रही। इनमें से कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं–

आनंदकृत अभिधम्म मूल टीका, चुल्लधम्मपाल कृत 'सच्च संक्षेप' (सत्य संक्षेप), उपसेन कृत सद्धम्मप्पजोतिक (निद्देस की टीका) महानाम कृत सद्षम्मप्पकासिनी (पटिसंभिदामग्ग की टीका), कस्सप कृत माहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी, वज्रबुद्धि कृत संमतवपासादिका की टीका, क्षेम कृत खेमप्पकरण, अनिरुद्ध कृत अभिधम्मत्थसंगहो परमत्थविनिश्चय और नामरूपपरिच्छेद, धर्मश्री कृत खुद्दकसिक्खा (विलय संबंधी अट्ठकथा) और महास्वामी कृत मूलसिक्खा।

12वीं शती से अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में ही टीकाओं की रचना प्रारंभ हुई। इस कार्य की सुव्यवस्था के लिए लंका नरेश पराक्रमबाहु प्रथम (ई. 1153-86) के काल में सिंहली स्थविर महाकस्सप द्वारा एक संगीति की गई, जिसके फलस्वरूप समंतपासादिका आदि अट्ठकथाओं पर दीपानी, मंजूसा, पकासिनी आदि नामों से आठ टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से अब केवल विनयपिटक की समंतपासादिका अट्ठकथा पर लिखी गई सारत्थदीपनी टीका मात्र मिलती है। इसके कर्ता सारिपुत्त की तीन अन्य टीकाएँ भी मिलती हैं-

(1) लीनत्थपकासिनी- मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा पर,

(2) विनयसंग्रह और

(3) सारत्थमंजूसा- अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा पर।

सुमंगल, सद्धम्मजोतिपाल, धम्मकीर्ति, बुद्धरविखत और मेघंकर - इन सभी ने भिन्न-भिन्न अट्ठकथाओं पर टीकाएँ लिखी है। इनमें अकेले वाचिस्सर थेर के मूल सिक्खा टीका आदि दस टीका ग्रंथ मिलते हैं। 13वीं शती में स्थविर विदेह, बुद्धप्रिय और धर्मकीर्ति द्वारा समंतकूटवण्णणा आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई। 14वीं शती की रचनाओं में चार काव्य ग्रंथ प्रसिद्ध हैं-

(1) मेधंकर कृत लाकप्पदीपसार (2) पंचगतिदीपन (3) सद्धम्मोपायन और (4) तेलकटाह गाथा।

बाद की तीन रचनाओं के कर्ताओं के नाम अज्ञात हैं।

14वीं शती के पश्चात् पालि-साहित्य-सृजन का क्षेत्र लंका से उठकर ब्रह्मदेश में पहुँच गया। यहाँ के साहित्यकारों ने अभिधम्म को विशेष रूप से अध्ययन का विषय बनाया। 15वीं शती की कुछ रचनाएँ हैं-

अरियवंस कृत मणिसारमंजूसा,
मणिदीप और जातक विबोधन,
सद्धम्मसिरि कृत नेत्तिभावनी,
सीलवंस कृत बुद्धालंकार तथा
रट्ठसारकृत जातकों के काव्यात्मक रूपांतर।

16वीं शती में सद्धम्मालंकार ने पट्ठाण प्रकरण पर पट्ठाणदीपनी नामक टीका लिखी तथा महानाम से आनंदकृत अभिधम्म-मूल-टीका पर मधुसारत्य दीपनी नामक अनुटीका लिखी। 17वीं शती में त्रिपिटकालंकार ने अट्ठसालिनी पर की बीस गाथाओं में वीसतिवण्णणा, सारिपुत्तकृत विनयसंग्रह पर विनयालंकार नामक टीका तथा यसवड्ढनवत्थु इन तीन ग्रंथों की रचना की। त्रिलोकगुरु ने चार ग्रंथ रचे-

1. धातुकथा-टीका-वण्णणा
2. धातुकथा-अनंटीका-वण्णणा
3. यमकवण्णणा और
4. पट्ठाणवण्णणा।

सारदस्सी कृत धातुकथा योजना और महाकस्सप कृत अभिधम्मत्थगंठिपद (अभिधर्म के कठिन शब्दों की व्याख्या) इस शती की अन्य दो रचनाएँ हैं।

18वीं शती की ज्ञानामिवंशनामक ब्रह्मदेस के संघराज की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं-

1. पेटकालंकार-नेत्ति-प्रकरण की टीका,
2. साधुविलासिनी दीर्घनिकाय की कुछ व्याख्या और
3. राज धिराजविलासिनी नामक काव्य।

19वीं शती की ब्रह्मदेश की कुछ रचनाएँ हैं- नलाटधातु वंस, संदेस कथा सीमाविवादविनिश्चय आदि। इस शती के छकेसधातुवंस, गंधवंस और सासनवंस नामक रचनाओं का परिचय वंस साहित्य के अंतर्गत दिया गया है। इस शती की अन्य उल्लेखनीय रचना है भिक्षु लेदिसदाव कृत अभिधम्मसंग्रह की परपत्थदीपनी टीका तथा यमक संबंधी पालि निबंध जो उन्होंने श्रीमती राइस डेविड्ज की कुछ

शंकाओं के समाधान के लिए लिखा था। पालि-साहित्य-रचना की अविच्छिन्न धारा के प्रमाणस्वरूप 20वीं शती की दो रचनाओं का उल्लेख करना अनुचित न होगा। ये हैं भारतवर्ष में भंदत धर्मानंद कोसांबी द्वारा रचित विसुद्धिमग्गदीपिका और अभिधम्मत्थसंग्रह की नवनीत टीका। इस परिचय के आधार से कहा जा सकता है कि पालिसाहित्य-निर्माण की धारा ढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी अभी तक विच्छिन्न नहीं हुई।

दीपवंश

लंका में जिस समय त्रिपिटक पर अट्ठकथाओं की रचना की जा रही थी, उसी समय दूसरी ओर कुछ ग्रंथकारों में ऐतिहासिक रुचि जाग्रत हुई जिसके परिणामस्वरूप दीपवंश की रचना की गई। इन ग्रंथों में लंका का इतिहास, प्राचीनतम काल से लेकर राजा महासेन के राज्यकाल (ई. 325-352) तक, वर्णन किया गया है। इस रचना का उपयोग बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में प्रचुरता से किया है और कहीं-कहीं उसके अवतरण भी दिए हैं। इस प्रकार दीपवंस का रचनाकाल ई. चौथी पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है। सिंहल के राजाओं के साथ-साथ यहाँ बुद्ध के जीवन, उनके शिष्यों की परंपरा एवं तीनों संगीतियों आदि का विवरण कुछ बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है। अनुमानतः इसके विषय का आधार उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथाएँ रही हैं। यह रचना पालि-गद्य-मिश्रित है, शैली बहुत कुछ शिथिल है, पुनरुक्तियाँ भी बहुत है और रचना भाषा, छंद आदि के दोषों से मुक्त नहीं है। ये लक्षण उसकी प्राचीनता के द्योतक हैं और इस बात के प्रमाण हैं कि उसमें विषयवस्तु अनेक स्रोतों से संकलित की गई है तथा उसमें संपादकीय व्यवस्था लाने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से लंका में आदि से ही इसका बड़ा आदर रहा है। कहा जाता है कि ई. 5वीं शती में ही सिंहल राजा धातुसेन ने एक वार्षिकोत्सव के अवसर पर राष्ट्रीय गौरव के साथ इसका पाठ कराया। भारतीय ऐतिहासिक रचनाओं में दीपवंस निःसदेह एक प्रचीनतम रचना है।

महावंश

दीपवंश की रचना से कुछ काल पश्चात् महानाम के द्वारा महावंश की रचना हुई। इसका मूलाधार भी वे ही सिंहल की अट्ठकथाएँ तथा दीपवंश है। यहाँ विषय का प्रतिपादन दीपवंश की अपेक्षा अधिक विशद और व्यवस्थित है।

भाषा भी अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित और शैली तो कहीं कहीं महाकाव्यों की पद्धति का स्मरण कराती है। महावंश का मूल भाग 37 परिच्छेदों का है और वह दीपवंश के समान महासेन के शासनकाल पर समाप्त होता है। प्रारंभ के परिच्छेदों में, जो लंका में बौद्धधर्म के आगमन से पूर्व देश की धार्मिक परिस्थितियों के उल्लेख आए हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, पांड्डकामय नरेश का राज्यकाल महेंद्र द्वारा लंका में बौद्धधर्म के प्रवेश से 60 वर्ष पूर्व तक रहा कहा गया है। इस राजा ने 70 वर्ष राज्य किया तथा राज्य के 10वें वर्ष में ही अनुराधापुर नगर की स्थापना की। इससे आगे इस रचना में समय-समय पर परिवर्धन किया गया है। 37वें परिच्छेद की 50वीं गाथा से आगे 79वें परिच्छेद तक की रचना स्थविर धर्मकीर्ति कृत है और उसमें महासेन के काल से लेकर पराक्रमबाहु प्रथम (ई. 1240-75) तक 78 राजाओं की वंशपरंपरा दी गई है। महावंश का यह तथा इससे आगे के परिच्छेद चूलवंश कहलाता है। चूलवंश 80 से 90 तक के 11 परिच्छेदों के रचयिता बुद्धरक्षित भिक्षु ने आगामी 23 राजाओं का वर्णन किया जो पराक्रमबाहु चतुर्थ तक आया। 91 से 100 तक के 10 परिच्छेद सुमंगल थेर द्वारा रचे गए और उनमें भुवनेकबाहु तृतीय से लेकर कीर्तिश्री राजसिंह के काल (लग. ई. 1785) तक के 24 राजाओं का वर्णन किया। यहाँ लंका में ईसाई धर्म के प्रचार की भी सूचना मिलती है। अगला 101वाँ परिच्छेद सुमंगलाचार्य तथा देवरक्षित द्वारा रचा गया। तत्पश्चात् वहाँ का राज्य अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। महावंश का अंतिम परिवर्धन भिक्षु प्रज्ञानंद नायक द्वारा 1936 में प्रकाशित हुआ और इसमें 1815 से 1935 ई. तक का लंका का इतिहास समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार महावंश की रचना में छह ग्रंथकारों का हाथ है जिनके द्वारा इसमें भगवान बुद्ध से लेकर लगभग ढाई हजार वर्षों का लंका का इतिहास अविच्छिन्न रूप से अंकित किया गया है। यह ग्रंथ इस बात का भी प्रतीक है कि उक्त दीर्घ काल तक लंका में पालि भाषा को किस प्रकार जीवित रखा गया और उसमें साहित्यिक रचना की धारा को कभी सूखने नहीं दिया गया।

अन्य वंश ग्रन्थ

दीपवंश और महावंश रचनाओं ने तीव्र ऐतिहासिक वृत्ति जाग्रत की। परिणामतः अनेक अन्य वंश नामक ग्रंथ रचे गए। इसमें ऐतिहासिक तथ्य तो प्रायः उक्त दोनों ग्रंथों से ही लिए गए हैं, किंतु उनमें जो नाना विषयों की श्रुतिपरंपरा

को एकत्र कर दिया गया है, वह महत्वपूर्ण है। इनमें विषय को महत्व देने के लिए बहुत कुछ अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है, जिसके कारण कहीं-कहीं इतिहासज्ञ को उद्वेग या अश्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार की मुख्य रचनाएँ ये हैं -

(1) महाबोधिवंस भिक्षु उपतिस्स द्वारा गद्य में 11वीं शती में लिखा गया, इसमें बोधिवृक्ष का इतिहास दिया गया है और उसके साथ बुद्धधर्म एवं उसकी संगीतियों, महेंद्र के लंकागमन और वहाँ चैत्यनिर्माण आदि का भी विवरण है।

(2) 13वीं शती में भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर ने गद्य में थूपवंस की रचना की, जिसमें बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का इतिहास दिया गया है। ग्रंथकार के मतानुसार तथागत, प्रत्येक बुद्ध, तथागत के शिष्य एवं चक्रवर्ती राजाओं के अवशेष जिन चैत्यों में रखे जाते हैं, वे स्तूप कहलाते हैं। बुद्ध के अवशेष आदि राजगृह, वैशाली आदि आठ स्थानों में रखे गए। किंतु मगधराज अजातशत्रु ने उन सबको एकत्र कर राजगृह के महास्तूप में ही रखा। अशोक ने इनका पुनः विभाजन कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर 84 हजार स्तूप बनवाए। लंका में देवानापिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने तथा उनकी भतीजी अनुलादेवी की प्रव्रज्या संघमित्र के हाथों संपन्न हो जाने पर संपूर्ण लंका द्वीप में एक-एक योजन के अंतर पर स्तूप बनवाए गए, इत्यादि।

(3) दाठावंस 13वीं शती में सारिपुत्त के शिष्य महास्थविर धर्मकीर्ति द्वारा पद्य में रचा गया। यह रचना पांडित्यपूर्ण है। इसमें विषय का विस्तार प्रायः थूपवंश के ही समान है, केवल यहाँ बौद्ध धर्म का इतिहास भगवान बुद्ध के दाँत के साथ गूँथा गया है।

(4) हत्थवनगल्ल विहारवंस भी 13वीं शती की गद्यपद्यात्मक रचना है, जिसके 11 अध्यायों में से प्रथम आठ में लंका नरेश श्री संबोधि का वर्णन है एवं अंतिम तीन अध्यायों में उनके द्वारा निर्मापित विहारों का जिनमें से एक अति सुप्रसिद्ध अत्तनगलु विहार या हत्थवनगलु विहार भी था।

(5) 14वीं शती में महामंगल भिक्षु द्वारा बुद्धधोसुप्पत्ति के नाम से बुद्धघोष का जीवनचरित् लिखा गया। इसका तथ्यात्मक अंश उतना ही है जितना महावंश आदि में पाया जाता है। बुद्धघोष के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा, दीक्षा आदि विषयक वर्णन प्रायः कल्पित हैं।

(6) 14वीं शती की एक अन्य रचना सद्धम्मसंगह है, जिसके कर्ता महास्वामी धर्मकीर्ति हैं। इसमें आदि से लेकर 13वीं शती तक के बौद्धधर्म एवं भिक्षुसंघ का इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है। कर्ता ने त्रिपिटक के ग्रंथों के उल्लेख भी दिए हैं। कब, किन देश प्रदेश में धर्मप्रचार के लिए भिक्षु भेजे गए इसका यहाँ विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ग्रंथ में कुल 40 गद्यपद्यात्मक अध्याय हैं। नौवें अध्याय में बहुत से ग्रंथों और ग्रंथकारों के भी उल्लेख आए हैं। 14वीं शती के पश्चात् लंका में इस प्रकार की कोई विशेष ग्रंथरचना नहीं पाई जाती। किंतु इस प्रणाली के तीन ग्रंथ 19वीं शती में ब्रह्मदेश में लिखे गए मिलते हैं। किसी एक भिक्षु ने गद्य-पद्य-मिश्रित सरल शैली में भगवान बुद्ध के छह केशों के ऊपर निर्माण कराए गए स्तूपों का वर्णन छकेस धातुवंस नामक ग्रंथ में किया है। इस शती की विशेष महत्वपूर्ण रचना है।

(7) गंधवंस (ग्रंथवंश), जिसमें महाकच्चान से लेकर नागिताचार्य तक के 56 ग्रंथकारों तथा उनकी रचनाओं का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त कोई 30 ग्रंथ ऐसे भी उल्लखित हैं जिनके कर्ताओं के नाम नहीं दिए गए। यह ग्रंथ बड़ी सावधानी से लिखा गया प्रतीत होता है। 19वीं शती की एक और रचना है।

(8) शासनवंश, जिसे कर्ता भिक्षु प्रज्ञास्वामी हैं। यहाँ बुद्धकाल से लेकर 19वीं शती तक के स्थविरवादी बौद्धधर्म का इतिहास 10 अध्यायों में दिया गया है, जो विशेष महत्वपूर्ण है।

उक्त ग्रंथों में अधिकांश भाग प्राचीन त्रिपिटक, उनकी अट्ठकथाओं तथा महावंश के अंतर्गत वार्ता की संक्षेप या विस्तार से पुनरावृत्ति मात्र है। किंतु फिर भी उनमें अपने-अपने विषय की कुछ मौलिकता भी है जिसके आधार से हमें उक्त विषयों का कुछ इतिहास बुद्धकाल से लगाकर अब तक का अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होता है। यह पालि साहित्य की अपनी विशेषता है, जो संस्कृत प्राकृत में नहीं पाई जाती।

पालि के शास्त्रीय ग्रन्थ

पालि में समय-समय पर शास्त्रीय ग्रंथ भी रचे गए हैं। व्याकरण के क्षेत्र में कच्चान और मोग्गल्लान कृत, व्याकरण एवं उनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। सन् 1154 ई. में ब्रह्मदेश के भिक्षु अग्गवंस कृत सद्दनीति, कच्चान के व्याकरण पर

आधारित पालि भाषा का व्याकरण है। इसके तीन भाग हैं– पदमाला, धातुमाला और सुत्तमाला। इसी पर आधारित जिनरत्न भिक्षु कृत धात्वर्थदीपनी नामक पद्यबद्ध धातुसूची है। पालि व्याकरण विषयक अन्य कुछ रचनाएँ हैं– सद्धम्मगुरु कृत सद्दबुत्ति, मंगलकृत गंधट्ठी और सामनेर धम्मदस्सी कृत वच्चवाचक (14वीं शती), अरियवंश कृत गंधाभरण (15वीं शती), ब्रह्मदेश के नरेश क्यच्चा की पुत्री कृत विभक्त्यर्थप्रकरण (15वीं शती), जंबूध्वज कृत संवण्णणानय–दीपना और निरुत्तिसंगह (17वीं शती), राजगुरु कृत कारकपुप्फमंजरी (18वीं शती)।

पालि के 'अभिधानप्पदीपिका' और 'एकक्खर कोश' ये कोश ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं।

पालि छंदरूशास्त्र पर भी अनेक रचनाएँ हैं, जैसे वृत्तोदय, छंदोविचिति और कविभारप्रकरण आदि। इनमें थर संघरविखत कृत (12वीं शती) वृत्तोदय ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसपर वचनत्वजोतिका नामक टीका भी लिखी गई। इन्हीं संघरविखत कृत पालि काव्यशास्त्र पर भी एकमात्र रचना है– सुबोधालंकार।

4

प्राकृत साहित्य

भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुग में जो अनेक प्रादेशिक भाषाएँ विकसित हुई उनका सामान्य नाम प्राकृत है और उन भाषाओं में जो ग्रंथ रचे गए उन सबको समुच्चय रूप से प्राकृत साहित्य कहा जाता है। विकास की दृष्टि से भाषावैज्ञानिकों ने भारत में आर्यभाषा के तीन स्तर नियत किए हैं – प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन। प्राचीन स्तर की भाषाएँ वैदिक संस्कृत और संस्कृत हैं, जिनके विकास का काल अनुमानतः ई. पू. 2000 से ई. पू. 600 तक माना जाता है। मध्ययुगीन भाषाएँ हैं – मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची भाषा, महाराष्ट्री और अपभ्रंश। इनका विकासकाल ई. पूर्व 600 ई. 1000 तक पाया जाता है। इसके पश्चात्, हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, आदि उत्तर भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास प्रारंभ हुआ जो आज तक चला आ रहा है।

मध्ययुगीन भाषाओं (प्राकृत) की मुख्य विशेषताएँ

प्राचीन भाषाओं से उक्त मध्ययुगीन भाषाओं में मुख्यतः निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं –

1. संस्कृत के स्वरों में ऋ, लृ, एवं ऐ और औ का मध्ययुगीन भाषाओं में अभाव है। ए और ओ की ह्स्व मात्राओं का प्रयोग इन भाषाओं की अपनी विशेषता है।
2. विसर्ग यहाँ सर्वथा नहीं पाया जाता।

3. क से लेकर म् तक के स्पर्शवर्ण पाए जाते हैं। किंतु अनुनासिकों में संकोच तथा व्यत्यय होता है।
4. तीनों ऊष्मा वर्णो के स्थान पर केवल एक और विशेषत: स् ही अवशिष्ट पाया जाता है।
5. संयुक्त व्यंजनों का प्राय अभाव है। दोनों संयोगी व्यंजनों का या तो समीकरण कर लिया जाता है अथवा स्वरागम द्वारा दोनों को विभक्त कर दिया जाता है, या उनमें से एक का लोप कर दिया जाता है।
6. द्वित्व व्यंजन से पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रास्व कर दिया जाता है एवं संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप कर उससे पूर्व का ह्स्व स्वर दीर्घ कर दिया जाता है।
7. व्याकरण की दृष्टि से संज्ञाओं तथा क्रियाओं के रूपों में द्विवचन नहीं पाया जाता।
8. हलंत संज्ञाओं और धातुओं को स्वरांत बनाकर चलाया जाता है।
9. कारक के रूपों में संकोच पाया जाता है।
10. क्रियाओं में गणभेद एवं परस्मैपद आत्मनेपद का भेद नहीं किया जाता।
11. सभी प्रकार के रूप विकल्प से चलते हैं।
12. क्रियारूपों में कालादि भेदों का अल्पीकरण हुआ है। इनका बहुत काम बहुधा कृदंतों से चलाया जाता है।

प्राकृत की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

अब प्रश्न यह होता है कि मध्ययुग की भाषाओं में संस्कृत की अपेक्षा इतनी अधिक विशेषताएँ कब, क्यों, कैसे और कहाँ पर उत्पन्न हो गईं। प्राकृत के वररुचि आदि वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं की प्रकृति संस्कृत को मानकर उससे प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति की है। 'प्रकृति: संस्कृतं, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्'। किंतु संस्कृत भाषा का वर्तमान स्वरूप स्वयं ई. पूर्व छठी शती के लगभग विकसित हुआ है और उसे स्थिर रूप तो पाणिनि द्वारा ई. पू. तीसरी चौथी शती में दिया गया है। संस्कृत के उक्त प्रकार के अनेक लक्षणों से विभिन्न भाषाओं का छठी शती ई. पू. में ही उत्पन्न होना कैसे संभव हो सकता है? इसके अतिरिक्त प्राकृत में ऐसे भी अनेक शब्द पाए जाते हैं जिनका संस्कृत में अभाव है, किंतु वैदिक भाषा में वे विद्यमान हैं। प्राकृत की अनेक प्रवृत्तियों को लिए हुए बहुत से शब्द वेदों में पाए जाते हैं, जो संस्कृत व्याकरण के अनुकूल नहीं

हैं। इस समस्या पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों का एक मत यह है कि आर्यभाषा जब भारतवर्ष में प्रचलित हुई, अनार्य लोग उसका आर्यो के सदृश शुद्ध शुद्ध उच्चारण और प्रयोग नहीं कर पाए, अतएव उन्होंने अपने निजी उच्चारण एवं भाषाशैली के अनुसार उसे बोलना प्रारंभ किया और उनके संपर्क से इस का प्रभाव आर्यो पर भी पड़ा। इसी के फलस्वरूप प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों का विकास हुआ। इस मत के समर्थन में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक काल से ही जो ट् ठ् आदि मूर्धन्य ध्वनियों का प्रवेश आर्यभाषा में हुआ, वह बहुलता से उस काल की अनार्य भाषाओं का ही प्रभाव था। किंतु प्राचीन अनार्य भाषाओं का विश्लेषण कर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि प्राकृत की उक्त विशेषताओं के बीज उन अनार्य भाषाओं में विद्यमान थे। इसीलिये इस मत के संबंध में विवाद है।

दूसरा मत यह है कि वेदों की भाषा बोलने वाले जातियों में ही स्वयं ध्वन्यात्मक भेद थे, जिनके कुछ प्रमाण वेदों में ही उपस्थित है। अनुमानतः वेदों की भाषा उस काल की रूढ़िबद्ध वेदभाषा के क्रमविक से अनुमानतः कई हजार वर्षो में संस्कृत भाषा का विकास हुआ, पर विशेषतः सुशिक्षित पुरोहित वर्ग की अपनी भाषा थी तथा जिसमें धार्मिक कार्यों में ही उपयोग किया जाता था। उतने ही काल प्राचीनतम वैदिक भाषा की समकालीन जनसाधारण की लोकभाषा से संस्कृत के साथ साथ ही प्राकृत का भी विकास हुआ, जिसमें प्रदेशभेदानुसार नाना भेद थे, इस संबंध में यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में आर्यों का प्रवेश एक ही काल में एवं एक धारा में हुआ नहीं कहा जा सकता। यदि आगे पीछे आने वाली आर्य जातियों के भाषाभेद से प्राकृत भाषाओं के उद्‌गम और विकास व संबंध हो तो आश्चर्य नहीं। इस संबंध में हॉर्नले और ग्रियर्सन के वह मत भी उल्लेखनीय है जिसके अनुसार भारतीय आर्यभाषाएँ दो वर्गो में विभाजित पाई जाती हैं –एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की भाषाओं के उक्त प्रकार दो वर्ग उत्पन्न हो गए। इसे संक्षेप में समझने के लिये महाराष्ट्र प्रदेश के नामों जैसे गोखले, खेर, परांजपे, पाध्ये, मुंजे गोडवोले, तांबे, तथा लंका में प्रचलित नामों जैसे गुणतिलके, सेना नायके, बंदरनायक आदि में जो अकारांत कर्ता एक वचन के रूप से ए प्रत्यय दिखाई देता है, वही पूर्व की मागधी प्राकृत में अपने नियमित स्थिरता को प्राप्त हुआ पाया जाता है। आदि आर्यभाषा में ल् का उच्चारण भी माना गया है, जैसे कुलउ उ श्रोत्र। उसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वैदिक वृक् के स्थान पर जर्मन भाषासमूह में वुल्फ एवं ग्रीक

में पृथु का प्लुतुस् पाया जाता है। यह के स्थान पर ल् का उच्चाराण ध्वनि मागधी से सुरक्षित हैं, किंतु उसी काल की बोलियों में उनके समीकृत रूप जैसे ओत्त अत्त, सत्त, भी पाए जाते हैं। बोगाजकुई के भिन्न मितन्नि (मैत्र यणी?) आर्यशाखा के जो लगभग 200 ई. पू. के लेख मिले हैं उनमें इंद्र और नासत्य देवताओं के नाम इंदर और नासातीय रूप से अंकित हैं। उनमें स्वरभक्ति द्वारा संयुक्त वर्णो के संयुक्त किए जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। वरुण देवता का नाम 'उरुवन' रूप में उल्लिखित है जिसमें स्वर के अग्रागम तथा वर्णव्यत्यय की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। ये प्रवृत्तियाँ प्राकृत के सामान्य लक्षण हैं। पालि में प्रयुक्त इध संस्कृत तथा वैदिक के इह से पूर्वकालीन परंपरा का है इसमें भी किसी को कोई संदेह नहीं है। आदि आर्यभाषा में ए तथा ओ के ह्रस्व रूप थेय ऐ और औ का अभाव था। किंतु अइ, अउ जैसे मिश्र स्वर प्रचलित थेय अनुनासिक स्पर्शों का संकोच था। तीन ऊष्मों में केवल एकमात्र स् ही था। ये ध्वन्यात्मक विशेषताएँ प्रधानतः शौरसेनी प्राकृत में सुरक्षित पाई जाती हैं, इत्यादि। इन लक्षणों के सद्भाव का समाधान समुचित रूप से यही मानकर किया जा सकता है कि प्राकृत भाषाओं में उनका आगमन प्राचीनतम आर्य जातियों की बोलियों से अविच्छिन्न परंपरा द्वारा चला आया है। यथार्थतः संस्कृत अथवा वैदिक को ही प्राकृत की प्रकृति मान लेने से उक्त लक्षणों का कोई समाधान नहीं होता।

तब प्राकृत के वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति क्यों कहा? इसका कारण उन व्याकरणों के रचे जाने के काल और उनके स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्टतः समझ में आ जाता है। वे व्याकरण उस काल में लिखे गए जब विद्वत्समाज में प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का अधिक प्रचार और सम्मान था। वे लिखे भी संस्कृत भाषा में गए हैं तथा उनका उद्देश्य भी संस्कृत नाटकों में भी प्राकृतिकता रखने के लिए करना पड़ता था और जिनमें उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाएँ भी निर्मित हो चुकी थीं। अतएव उन वैयाकरणों ने संस्कृत को आदर्श ठहराकर उससे जो विशेषताएँ प्राकृत में थीं उनका विवरण उपस्थित कर दिया और इसकी सार्थकता संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहकर सिद्ध कर दी। तथापि नमिसाधु ने अपना यह मत स्पष्ट प्रकट किया है कि प्रकृति का अर्थ लोक या जनता है और जनसाधारण को भाषा होने से ही वह प्राकृत कहलाई। प्रकृति का अर्थ लोक बहुत प्राचीन है तथा कालिदास ने भी उसका लोक के अर्थ में प्रयोग किया है (राजा प्रकृति रंजनात्, रघु. सर्ग, 4)। प्राकृतों की इस अति

प्राचीन परंपरा के प्रकाश में इन भाषाओं को वैदिक और संस्कृत की अपेक्षा उत्तरकालीन व मध्ययुगीन कहने का औचित्य भी विचारणीय हो जाता है। उसकी यदि कोई सार्थकता है तो केवल इतनी कि ये भाषाएँ वैदिक और संस्कृत के पश्चात् ही साहित्य में प्रयुक्त हुई। उनका प्रथम बार धार्मिक प्रचार के लिये उपयोग ई. पू. छठी शती में श्रमण महावीर और बुद्ध ने किया तथा उनकी साहित्यिक रचनाओं में शब्दों तथा शैली की दृष्टि से संस्कृत का बड़ा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्राकृत भाषा का स्वरूप एवं क्रमिक विकास

1. भाषा जब तक बोली के रूप में रहती है, उसमें देश और काल की अपेक्षा निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। इसी नियम के अनुसार काल के सापेक्ष प्राकृत के तीन स्तर स्वीकार किए गए हैं –
2. पूर्वकालीन (ई. पू. 600 से 100 ई. तक),
3. मध्यकालीन (ई. 100 से 600 ई. स. तक) तथा
4. उत्तरकालीन (ई. सन् 600 से 1000 तक)।

प्राचीन स्तर की प्राकृत

श्रमण महावीर और बुद्ध ने जिस भाषा या भाषाओं में अपने उपदेश दिए वे प्राकृत के प्राचीन स्तर के उत्कृष्ट रूप रहे होंगे। उनके उपदेशों की भाषा को क्रमशः मागधी एवं अर्धमागधी कहा गया है। किंतु वर्तमान में पालि कही जाने वाली भाषा के ग्रंथों में हमे मागधी का वह स्वरूप नहीं मिलता जैसा पश्चात्कालीन वैयाकरणों ने बतलाया है। तथापि भाषा का जो स्वरूप बौद्ध त्रिपिटक ग्रंथों में पाया जाता है वह प्राकृत के प्राचीन स्तर का ही स्वीकार किया जाता है। इस स्तर प्राकृत का सर्वतः प्रामाणिक स्वरूप अशोक की शिलाओं और स्तंभों पर उत्कीर्ण धर्मलिपियों में उपलब्ध होता है। इन शिलाओं की संख्या लगभग 30 है। सौभाग्य से इनमें केवल ई. पूर्व तृतीय शती की प्राकृत भाषा का स्वरूप सुरक्षित है, किंतु उन प्रशस्तियों में तत्कालीन भाषा के प्रादेशिक भेद भी हमें प्राप्त होते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में शहबाजगढ़ी और मानसेहरा नामक स्थानों की शिलाओं पर जो 14 प्रशस्तियाँ खुदी हुई पाई गई हैं, उनमें स्पर्श वर्णों के अतिरिक्त और ल् एवं श् ष् स् ये तीनों ऊष्म प्रायः अपने-अपने स्थानों पर सुरक्षित हैं। रकार युक्त संयुक्त वर्ण भी दिखाई देते हैं। किंतु ज्ञ और णय के स्थान

पर ञ का प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार यह भाषा वैयाकरणों की पैशाची प्राकृत का पूर्वरूप कही जा सकती है। ये ही 14 प्रशस्तियाँ उस भाषा को शौरसेनी का प्राचीन रूप प्रकट करती हैं। उत्तर प्रदेशवर्ती कालसी, जौगड़ नछौली नामक स्थानों पर भी वे ही 14 प्रशस्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें हमें के स्थान पर ल् तथा अकारांत संज्ञाओं के कर्ता कारक एक वचन की ए विभक्ति प्राप्त होती है। तथापि तीनों ऊष्मों के स्थान पर श् नहीं किंतु स् का अस्तित्त्व मिलता है। इस प्रकार यहाँ मागधी प्राकृत के तीन लक्षण नहीं। अतएव इसे मागधी की अपेक्षा अर्धमागधी प्राकृत के तीन लक्षणों में से दो प्रचुर रूप से प्राप्त होते हैं, किंतु सकार संबंधी तीसरा लक्षण नहीं। अतएव इसे मागधी की अपेक्षा अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीन रूप कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अशोक की प्रशस्तियाँ उनके भाषात्मक महत्व के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। उनमें प्राचीन भारत (ई. पू. तीसरी शती) के एक ऐसे सम्राट के नीति, धर्म एवं सदाचार संबंधी विचार और उपदेश निहित हैं जिसने न केवल इस विशाल देश के समस्त भागों पर राजनीतिक अधिकार ही प्राप्त किया था, तथा देश के बाहर भी अलेक्जेंड्रिया तक भिन्न-भिन्न देशों से सांस्कृतिक संबंध स्थापित किया था और यहाँ अपने धर्मदूत भी भेजे थे। इस सबके बाहर भी अलेक्जेंड्रिया तक भिन्न भिन्न देशों से सांस्कृतिक संबंध स्थापित किया था और वहाँ अपने धर्मदूत भी भेजे थे। इन सब दृष्टियों से यह साहित्य अपने ढंग का अद्वितीय है।

प्राचीन स्तर की प्राकृत का दूसरा उदाहरण उड़ीसा की उदयगिरि खंडगिरि की हाथीगुंफा नामक गुहा में उत्कीर्ण कलिंगसम्राट् खारवेल का लेख है, जो अनेक बातों में अशोक के शिलालेखों से समता रखता है। किंतु इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमें उस सम्राट् के वर्षो की विजयों तथा लोककल्याण संबंधी कार्यो का विवरण लिखा गया है। इसका काल अनुमानतः ई. पू. द्वितीय शती है। उसकी भाषा अशोक की गिरनार की प्रशस्तियों से मेल खाती है, अतएव वह प्राचीन शौरसेनी कही जा सकती है। इस प्राकृत का ई. पू. तीसरी शताब्दी मं पश्चिम भारत और उसके सौ, डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् जैन षट्खंडागम आदि ग्रंथों एवं कुंदकुंदाचार्य आदि की दक्षिण प्रदेश की रचनाओं में पाया जाना उसकी तत्कालीन दिग्विजय तथा सार्वभौमिकता का प्रमाण है। उस काल में इतना प्रचार और किसी भाषा का नहीं पाया जाता।

इसी प्राचीन स्तर की प्राकृत का प्रयोग हमें अश्वघोष कृत सारिपुत्र प्रकरण आदि नाटकों के उपलब्ध खंडों में प्राप्त होता है। इनमें नायकों तथा एक दो अन्य

पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं, जिसके तीन रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। सारिपुत्र प्रकरण में दुष्ट की भाषा में के स्थान पर ल, तीनों ऊष्मों के स्थान पर श् तथा अकारांत संज्ञाओं के कर्ताकारक एकवचन के रूप में ए विभक्ति, ये तीन लक्षण स्पष्टतः उस भाग को मागधी सिद्ध करते हैं। यहाँ क् त् आदि अघोष वर्ण न तो ग् द् आदि सघोषों में परिवर्तित हुए मिलते, न थ घ् आदि महाप्राण वर्ण ह् में परिवर्तित हुए मिलते, न थ् घ् आदि महाप्राण वर्ण ह्न में परिवर्तित हुए और न दंत्य न् के स्थान पर मूर्धन्य ण दिखाई देता। ये अश्वघोष की प्राकृत के लक्षण उसे प्राचीन स्तर की सिद्ध कर रहे हैं। गोर्व नामक पात्र की भाषा की प्राकृत में के स्थान पर स् का प्रयोग हुआ है। ये लक्षण उसे अर्धमागधी सिद्ध कर रहे हैं। नायिका, विदूषक तथा अन्य पात्रों की प्राकृत में ‘और ल् अपने अपने स्थानों पर हैं। सब ऊष्म स् के रूप में पाए जाते हैं तथा कर्ताकारक एकवचन ओकारांत पाया जाता है। इनसे यह भाषा स्पष्टतः प्राचीन शौरसेनी कही जा सकती है।

द्वितीय स्तर की प्राकृत

इसके पश्चात् प्राकृत भाषाओं के जो भेद प्रभेद हुए उनका विशद वर्णन भरत नाट्यशास्त्र (अध्याय 17) में प्राप्त होता है। उन्होंने वाणी का पाठ दो प्रकार का माना है– संस्कृत और प्राकृत, तथा कहा है कि प्राकृत में तीन प्रकार के शब्द प्रचलित हैं– समान (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी। नाटक में भाषाप्रयोग का विवरण उन्होंने इस प्रकार दिया है – उत्तम पात्र संस्कृत बोलें, किंतु यदि वे दरिद्र हो जाएँ तो प्राकृत बोलें, श्रमण, तपस्वी भिक्षु, स्त्री, बालक, आदि अशुद्ध है। तथापि इतना स्पष्ट है कि उन्होंने क, त, द, य और व के लोप, ख, घ आदि महाप्राण वर्णो के स्थान पर ह का आदेश, ट का ड, अनादि त् का अस्पष्ट द कार उच्चारण, ‘ट, ‘ण आदि का खकार, इन परिवर्तनों का उल्लेख किया है। इससे प्रमाणित है कि वे द्वितीय स्तर की प्राकृत का ही वर्णन कर रहे हैं। 32वें अध्याय में उन्होंने ध्रुवा नामक गीतिकाव्य का विस्तार से उदाहरणों सहित वर्णन किया है और स्पष्ट कहा है कि ध्रुवा में शौरसेनी का ही प्रयोग किया जाना चाहिए (भाषा तु शोरसेनी ध्रुवायाँ संप्रयोजयेत्)। यह बात उनके उदाहरणों से भी प्रमाणित है। अतः पश्चातकालीन धारणा निर्मूल है कि नाटकों के गेय भाग में महाराष्ट्री का प्रयोग किया जाय। भरत के मत से नाटक में शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जाय या इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का। ऐसी

देशभाषाएँ सात हैं – मागधी, आवंती, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दक्षिणात्या। अंत:पुर निवासियों के लिये मागधीय चेट, राजपुत्र और सेठों के लिये अर्धमागधीय विदूषकादि के लिये प्राच्याय नायिका एवं सखियों के लिय शौरसेनी से अविरुद्ध आवंतीय योद्धा, नागरिक तथा जुआरियों के लिये दाक्षिणात्याय तथा उदीच्य, खस, शबर, शक आदि जातियों के लिये वाह्लीका का प्रयोग करें। इनके अतिरिक्त भरत ने शबर, आभीर, चांडाल आदि की हीन भाषाओं को विभाषा कहा है। इस प्रकार भरत के नाटक के पात्रों में जो प्राकृत भावनाओं का बँटवारा किया है उसका संस्कृत के नाटकों में आंशिक रूप से ही पालन किया जाता है।

संस्कृत नाटकों में सबसे अधिक प्राकृत का उपयोग और वैचित्र्य शूद्रक कृत मृच्छकटिकम् में मिलता है। पिशल, कीथ विद्वानों आदि के मतानुसार तो मृच्छकटिक की रचना का उद्देश्य ही प्राकृत सम्बन्धी नाट्यशास्त्र के नियमों को उदाहृत करना प्रतीत होता है। इस नाटक के टीकाकार पृथ्वीधर के मतानुसार नाटक में चार प्रकार की प्राकृत का ही प्रयोग किया जाता है – शौरसेनी, अवंतिका, प्राच्य और मागधी। प्रस्तुत नाटक में सूत्रधार, नटी, नायिका वसंतसेना, चारुदत्त की ब्राह्मणी स्त्री एवं श्रेष्ठी तथा इनके परिचारक परिचारिकाएं ऐसे 11 पात्र शौरसेनी बोलते हैं। आवंती भाषा बोलने वाले केवल दो अप्रधान पात्र हैं। प्राच्य भाषा केवल विदूषक बोलता है, तब कुंज, चेटक, भिक्षु और चारुदत्त का पुत्र कुल छह पात्र मागधी बोलते हैं इनके अतिरिक्त शकारि, चांडाली तथा ढक्की के भी बोलने वाले एक-एक दो-दो पात्र हैं। किंतु यदि इन सब पात्रों की भाषा का विश्लेषण किया जाए तो वे सब केवल दो भागों में बाँटी जा सकती हैं – शौरसेनी और मागधी। टीकाकार ने स्वयं कहा है कि आवंती में केवल रकार व लोकोक्तियों का बाहुल्य होता है और प्राच्या में स्वार्थिक ककार का। अन्य बातों में वे शौरसेनी ही हैं। शकारी, चांडाली तथा ढक्की सब मागधी की ही शैलियाँ है। इस प्रकार नामचार का प्राकृत बाहुल्य होने पर भी वस्तुत: मृच्छकटिक में अश्वघोष के नाटकों की अपेक्षा कोई अधिक भाषाभेद नहीं दिखाई देता। प्राकृत का स्वरूप कालगति से विशेष विकसित हो गया है और उसमें कुछ ऐसे लक्षण आ गए हैं जिनके कारण इस प्राकृत को प्राचीन स्तर की अपेक्षा द्वितीय स्तर की कहा जाता है। इसी स्तर की प्राकृत तथा उसके देशभेदों का विवरण हमें उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों में मिलता है और उन्हीं का विपुल साहित्य भी विद्यमान है।

द्वितीय स्तर की प्राकृत का सर्वप्राचीन व्याकरण चंडकृत प्राकृत लक्षण या आर्ष प्राकृत व्याकरण है। यह अति संक्षिप्त है और केवल 99 सूत्रों में प्राकृत की विधियों का निरूपण कर दिया गया है। इस स्तर की विशेषता बतलाने वाले सूत्र ध्यान देने योग्य हैं। सूत्र 76 के अनुसार वर्गो के प्रथम क् च् ट् त् आदि वर्णों के स्थान पर तृतीय का आदेश होता है, जैसे, पिशाची – बिसाजी, जटा – डटा, कृतं –कदं, प्रतिसिद्ध – पदिसिद्धं। सूत्र 77 के अनुसार ख् घ् च् और भ के स्थान में हकार का आदेश जैसे– मुखं –मुहं, मेघरू–नेहो, माधवरू–माहवो, वृषभरू – वसहो। सूत्र 97 के अनुसार क् तथा वर्गो के तृतीय वर्णो (ग् ज् आदि) का स्वर के परे लोप होता है, जैसे –कोकिलरू –कोहली, भौगिक –भोइओ, राजा – राया, नदी –नई। सूत्र 98 के अनुसार लुप्त व्यंजन के परे अ होने पर य होता है, जैसे – काकाऊ कायाऊ, नानाऊ नाया, राजाऊ राया। अंतिम 99वें सूत्र में कहा गया है कि प्राकृत की शेष व्यवस्था शिष्ट प्रयोगों से जाननी चाहिए। इनसे आगे के चार सूत्रों में अपभ्रंश का लक्षण, संयुक्त वर्ण से लकार का लोप न होना, पैशाची का और ण् के स्थान पर ल् और न का आदेश, मागधिका का ʼऔर स् के स्थान पर ल् और श् का आदेश, तथा शौरसेनी का त् के स्थान में विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। भाषाशास्त्रियों का मत है कि द्वितीय स्तर के आदि में क आदि अबोध वर्णों के स्थान पर ग् आदि सघोष वर्णो का उच्चारण होने लगा। फिर इनकी अल्पतर ध्वनि शेष रही और फिर सर्वथा लोप हो गया, तथा महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर केवल एक शुद्ध ऊष्म ध्वनि ह् अवशिष्ट रह गई। ये प्रवृत्तियाँ तथा उक्त आर्ष व्याकरण में निर्दिष्ट य श्रुति विकल्प से समस्त जैन प्राकृत है। किंतु पश्चात्कालीन 16वीं, 17वीं शती के प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृतों के निरूपण में जो भ्रांतियाँ उत्पन्न की हैं, उनके आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने जैन साहित्य की प्राकृतों को उक्त विकल्पों के सद्भाव के कारण जैन शौरसेनी तथा जैन महाराष्ट्री नामों द्वारा पृथक् निर्दिष्ट करना आवश्यक समझा, यह ऐतिहासिक दृष्टि से वास्तविक नहीं है।

इस आर्ष प्राकृत व्याकरण के पश्चात् प्राकृत प्रकाश नामक व्याकरण लिखा गया, जिसमें आगे दो बार वृद्धि की गई। आदि के नौ परिच्छेद वररुचि कृत हैं। इनमे आदर्श प्राकृत की क्रमशः स्वरविधि, व्यंजनविधि, संयुक्तवर्ण विधि, संकीर्ण, संज्ञारूप, सर्वनाम विधि, क्रियारूप, धात्वादेश एवं अव्ययों का निरूपण किया गया है। अंत में कहा गया है कि प्राकृत का शेष स्वरूप संस्कृत के समझना चाहिए। इस व्याकरण में द्वितीय स्तर के प्राकृत का स्वरूप पूर्णरूप

से निर्धारित हुआ पाया जाता है। इसके अनुसार मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् प् य और द का प्राय: लोप होता है, एवं ख् घ् थ् ध् और भ् के स्थान पर ह् आदेश। प्राकृतप्रकाश के इस प्राचीन विभाग पर कात्यायन, भामह, वसंतराज, सदानंद और रामपाणिवादकृत टीकाएँ पाई जाती हैं। आगे के 10वें और 12वें परिच्छेदों में क्रमश: पैशाची का 14 सूत्रों में तथा मागधी का 17 सूत्रों में निरूपण किया गया है। इन दोनों भाषाओं की प्रकृति शौरसेनी कही गई है। किंतु इससे पूर्व कहीं भी शौरेसेनी का नाम नहीं आया। अतएव अनुमानत: इसके कर्ताओं की दृष्टि में सामान्य प्राकृत का निरूपण उस काल की सुप्रचलित शोरसेनी का ही है। इन दो परिच्छेदों पर केवल भामह की टीका है और विद्वानों का अनुमान है कि ये दोनों परिच्छेद उन्हीं के जोड़े हुए हैं। इनमें पैशाची का विशेषता शब्द के मध्य में तृतीय चतुर्थ वर्णो के स्थान पर प्रथम तथा द्वितीय का आदेश, ण के स्थान पर न्, ञ्, न्य के स्थान पर ञ तथा त्वा के स्थान पर तूण बतलाई गई है और मागधी की ', स्, के स्थान पर क्ष ज् के स्थान पर य्, क्ष के स्थान पर एक अहं के स्थान पर हके, हगे व अहके, तथा अकारांत कर्ता कारक एकवचन के अंत में ए कही गई हैं। प्राकृत प्रकाश का अंतिम 12 वाँ परिच्छेद बहुत पीछे जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस पर भामह व अन्य किसी की टीका नहीं है। इस परिच्छेद की अवस्था बड़ी विलक्षण है। इसमें शौरसेनी के लक्षण बतलाए गए हैं, जिसकी आदि में ही प्रकृति संस्कृत कही गई हैं। किंतु अंतिम 32वें सूत्र में पुन: कहा गया है शेषं महाराष्ट्री वत्। परंतु महाराष्ट्री शब्द इससे पूर्व ग्रंथ भर में अथवा अन्य कहीं व्याकरण में आया ही नहीं है। जान पड़ता है यह परिच्छेद उस समय जोड़ा गया है जब यह धारणा सुदृढ़ हो गई कि प्राकृत काव्य की भाषा महाराष्ट्री ही होनी चाहिए। अतएव जहाँ प्राकृत का निर्देश है, वहाँ महाराष्ट्री का ही तात्पर्य ग्रहण किया जाय। यहाँ जो शौरसेनी का स्वरूप बतलाया गया है, उसी से स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वरूप यहाँ सामान्य प्राकृत का बतलाया गया है, वह शौरसेनी का ही कालानुसार विकसित रूप है। उदाहरणार्थ शौरसेनी में मध्यवर्ती त् और थ् के स्थान क्रमश: द् और ध् होते हैं, वहाँ प्राकृत में द् का लोप और थ का ह होता है। 'भ' धातु का शौरसेनी में 'भो' ही रहता है, किंतु प्राकृत में वहाँ 'हो' आदेश कहा गया है। शौरसेनी में नपुंसक बहुवचन के रूप में वहाँ णि होता है, जैसे जलाणि, वाणणि, वहाँ प्राकृत के केवल इ रहता है, जैसे जलाइं, वणाइं शौरसेनी में दोला, दंड तथा दसण का आदि द् प्रकृति रूप रहता है, जबकि प्राकृत में वह ड् हो जाता है, जैसे डोला, डंड व डसण इत्यादि।

प्राकृत प्रकाश के पश्चात् प्राकृत तथा उसकी प्रादेशिक भाषाओं का सर्वांगपूर्ण निरूपण करने वाला, प्राकृत व्याकरण हेमचंद्र द्वारा 12वीं शती ई. में लिखा गया। इसके चार परिच्छेद हैं, जिनमें से लगभग साढ़े तीन परिच्छेदों में प्राकृत का सुव्यवस्थित विवरण दिया गया है और शेष लगभग 200 सूत्रों में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं के विशेष लक्षण बतलाए हैं। इन भाषाओं में से प्रथम तीन का स्वरूप तो अधिक विस्तृत रूप में वही है, जो ऊपर बतलाया जा चुका है। चूलिका पैशाची के लक्षण यहाँ चार सूत्रों में ये बतलाए गए हैं कि उसमें तीसरे और चौथे वर्णो के स्थान पर प्रथम और द्वितीय का आदेश होता है, का ल् विकल्प से होता है, कुछ आचार्यो के मत से आदिवर्ण की ध्वनि में परिवर्तन नहीं होता, शेष बातें पैशाची के समान जाननी चाहिए।

मध्ययुगीन प्राकृतों का गद्य-पद्यात्मक साहित्य विशाल मात्रा में उपलब्ध है। सबसे प्राचीन वह अर्धमागधी साहित्य है जिसमें जैन धार्मिक ग्रंथ रचे गए हैं तथा जिन्हें समष्टि रूप से जैनागम या जैनश्रुतांग कहा जाता है। इस साहित्य की प्राचीन परंपरा यह है कि अंतिम जैन तीर्थंकर महावीर का विदेह प्रदेश में जन्म लगभग 600 ई. पूर्व हुआ। उन्होंने 30 वर्ष की अवस्था में मुनि दीक्षा ले ली और 12 वर्ष तप और ध्यान करके कैवल्यज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपना धर्मोपदेश सर्वप्रथम राजगृह में और फिर अन्य नाना स्थानों में देकर जैन धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशों को उनके जीवनकाल में ही उनके शिष्यों ने 12 अंगों में संकलित किया। उनके नाम हैं-

(1) आचारांग, (2) सूत्रकृतांग, (3) स्थानांग, (4) समयांग, (5) भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति, (6) न्यायधर्म कथा (णायाधम्महाओ), (7) उपासकादशा, (8) अंतकृदशा, (9) अनुत्तेरोपपातिक (10) प्रश्न व्याकरण, (11) विपाक सूत्र और (12) दृष्टिवाद।

इन अंगों की भाषा वही अर्धमागधी प्राकृत है जिसमें महावीर ने अपने उपदेश दिए। संभवतः यह आगम उस समय लिपिबद्ध नहीं किया गया एवं गुरु-शिष्य परंपरा से मौखिक रूप में प्रचलित रहा और यही उसके श्रुतांग कहलाने की सार्थकता है।

महावीर का निर्वाण 72 वर्ष की अवस्था में ई. पू. 527 में हुआ और उसके पश्चात् शीघ्र ही उक्त अंगों की परंपरा में विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होने लगीं। जैनधर्म के दिगंबर संप्रदाय की मान्यता है कि श्रुतांगों का क्रमशः ह्रास होते-होते उनका

खंडशः ज्ञान कुछ आचार्यो को रहा और उसके आधार से उन्होंने नए रूप में सैद्धांतिक ग्रंथ लिखे, जिनके प्राचीनतम उदाहरण कर्मप्राकृत (षठ्खंडागम) व कषायप्राकृत (कसायपाहुड) नामक सूत्र हैं। किंतु श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता है कि उक्त आगम ग्रंथों को उत्पन्न होती हुई विकृतियों से बचाने के लिये समय-समय पर मुनियों ने उनकी वाचनाएँ कीं और उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण से 160 वर्षो पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभद्राचार्य की अध्यक्षता में हुई जिसमें 11 अंगों का संकलन किया गया। 12वें अंग का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी व्यवस्थित ज्ञान न होने से उसका उद्धार नहीं किया जा सका। जैन मुनियों की अपरिग्रह वृत्ति तथा वर्षाकाल को छोड़ निरंतर परिभ्रमण एवं उस काल की कठिनाइयों के कारण यह अंगज्ञान पुनः छिन्न-भिन्न होने लगा। आर्य स्कंदित ने मथुरा में मुनिसंघ का सम्मेलन किया और उन्हीं 11 अंगों को एक बार पुनः व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगर में मुनि सम्मेलन कराया और जैन आगम को वह रूप दिया जिसमें वह आज उपलब्ध है। इस वाचना में उपर्युक्त 11 अंगों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया जो इस कालावधि तक रचे जा चुके थे। ये थे - 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 प्रकीर्णक और दो चूलिकाएँ। इस प्रकार वलभी वाचना के फलस्वरूप अर्धमागधी जैनागम के 45 ग्रंथ व्यवस्थित हो गए जो आज भी उपलब्ध हैं, तथा जिनका संक्षेप में परिचय निम्न प्रकार हैं–

ग्यारह अंग

1. आचारंग –इस श्रुतग्रंथ में मुनियों के पालने योग्य सदाचार का विवरण दिया गया है। यह दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध में 9 अध्ययन और उनके अंतर्गत 44 उद्देश्यक हैं। ग्रंथ का यह भाग मूल एवं भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से प्राचीनतम है। द्वि. श्रुतस्कंध इसकी चूलिका के रूप में है और वह तीन चूलिकाओं एवं 16 अध्ययनों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध के नवमें उपधान नामक अध्ययन में महावीर की उग्र तपस्या एवं लाढ़ वज्रभूमि, शुभ्रभूमि आदि स्थानो में विहार करते हुए घोर उपसर्गो के सहने का मार्मिक वर्णन है।

2. सूत्रकृतांग–इसके भी दो श्रुतस्कंध हैं जिनमें क्रमशः 16 तथा 7 अध्ययन हैं1 प्रथम श्रुतांग प्रायः मद्यमय है और दूसरे में गद्य पद्य दोनों का प्रयोग

हुआ है। इसमें प्राचीन काल के दार्शनिक वादों जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि का प्ररूपण तथा निराकरण किया गया है तथा श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु, निर्ग्रंथ आदि के स्वरूप की व्याख्या की गई है। अंतिम अध्ययन नालदीय में महावीर के शिष्य गौतम तथा पार्श्वनाथ की परंपरा के उदक पेढ़ालपुत्र के बीच वार्तालाप और चातुर्याम धर्म के संबंध में विचार जैनधर्म की महावीर से पूर्वपरंपरा पर प्रकाश डालता है।

3. स्थानांग–इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः एक से लेकर 10 तक की संख्यावाले पदार्थो का निरूपण किया गया है, जैसे एक दर्शन, एकचारित्र, एक समय, इत्यादि, दो क्रियाएँ जीव और अजीवय वृक्ष तीन प्रकार केह्न पत्रोपेत, फलोपेत और पुष्पोपेत, तीन वेद ऋक, यजु और साम इत्यादि। इस पद्धति से इस ग्रंथ में अनेक विषयों का बहुमुखी वर्णन आया है, जो अपने ढंग का एक विश्वकोश ही है। उसकी यह शैली पालि त्रिपिटक के अंगुत्तर निकाय से समता रखती है।

4. समवायांग–यह भी स्थानांग के सदृश एकोत्तर क्रम से वस्तुओं का निरूपण करनेवाला विश्वकोश है। विशेषता इसकी यह है कि इसमें संख्याक्रम क्रमशः बढ़ता हुआ शतों, सहस्रों, शतसहस्रों तथा कोटियों तक पहुँचाया गया है। यथास्थान इसमें जैन आगम तथा तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि तरेसठ शलाकापुरुषों का परिचय नामवली पद्धति से वर्णित है।

5. भगवती व्याख्या प्रज्ञाप्ति–यह रचना आकार और विषय की दृष्टि जैनागम में सबसे अधिक विशाल और महत्वपूर्ण है। इसमें 41 शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशक में विभाजित है। शैली प्रश्नोत्तरात्मक है। प्रश्नकर्ता हैं गौतम गणधर और उत्तरदाता स्वयं महावीर। टीकाकारों के अनुसार इसमें 36 सहस्र प्रश्नोत्तरों का समावेश है। दर्शन, आचार, इतिहास, भूगोल आदि समस्त विषयों पर किसी न किसी प्रसंग से प्रकाश डाला गया है। महावीरकाल की राजनीतिक परिस्थिति और उस समय के घोर युद्ध आदि का वर्णन जैसा इस ग्रंथ में आया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता।

6. न्याय धर्मकथा–इस अंग का प्राकृत नाम न्यायधम्मकहाओ है और उसका संस्कृत रूपांतर ज्ञातृ या ज्ञाताधर्मकथा भी किया जाता है जिसका अर्थ होता है ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर का धर्मोपदेश। विषय को देखते हुए इसका प्रथम नाम ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि इसमें कथाओं द्वारा किन्हीं न्यायों अर्थात नीतिवाक्यों का स्पष्टीकरण किया गया है।

7. उपासकदशा–नामानुसार इसमें भी उपासक, कामदेव, चुलणीप्रिय आदि दस ऐसे उपासकों के चरित्र वर्णित हैं जिन्होंने कठिनाइयों के बीच धर्मपालन किया।

8. अंतकृदद्शा–नामानुसार इसमें भी उपासक दशा के समान दस अध्ययन ही रहे होंगे। किंतु वर्तमान में यहाँ आठ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग अनेक अध्ययनों में विभाजित हैं। इसमें ऐसे साधुओं के चरित्र वर्णित किए गए हैं, जिन्होंने तपस्या द्वारा संसार का अंत कर निर्वाण प्राप्त किया।

9. अनुत्तरोपपातिक दशा–इसमें ऐसे मुनियों के चरित्र वर्णित हैं जिन्हें अपनी तपस्या के बीच घोर उपसर्ग सहन करने पड़े और उन्होंने मरकर उन अनुत्तर नामक स्वर्गो में जन्म लिया जहाँ से केवल एक बार पुनः मनुष्य जन्म धारण कर निर्वाण प्राप्त किया जाता है।

10. प्रश्नव्याकरण–ग्रंथ के नाम से तथा स्थानांग एवं समवायांग से प्राप्त इस श्रुतांग के विषय परिचय से ज्ञात होता है कि इसमें मूलतः प्रश्नोत्तर के रूप में नाना सिद्धांतों की व्याख्या की गई थी। किंतु वर्तमान में ऐसा न होकर इसके प्रथम खंड में हिंसादि पाँच पापों का और दूसरे खंड में अहिंसादि व्रतों का प्ररूपण पाया जाता है।

11. विपाकसूत्र–इसमें दो श्रुतस्कंध हैं और प्रत्येक में दस दस-अध्ययन हैं। इसमें जीव के अच्छे और बुरे कर्मो से फलित होने वाले सुख दुःखों का बड़ा वैचित्र्य है जिसमें जीवन की सभी दशाओं का वर्णन आ गया है। जैनधर्म के कर्मसिद्धांतनुसार जीवन के समस्त अनुभव सुकर्म एवं दुष्कर्मो के परिणाम ही हैं। इसका इस श्रुतांग में विस्तार से प्ररूपण पाया जाता है।

बारह उपांग

(1) औपपातिक में नाना साधनाओं द्वारा पुनर्जन्म के स्वरूप का नाना उदाहरणों सहित व्याख्यान किया गया है। इसकी यह भी एक विशेषता है कि जिन नगर, राजा, चैत्य आदिक का अन्यत्र संकेत मात्र पाया जाता है, उसका यहाँ पूरा वर्णन मिलता है।

(2) रायपसेणिज्जं – इसका संस्कृत रूपांतर राजप्रश्नीय किया जाता है, किंतु संभवतः उसका संबंध कोशल नरेश प्रसेनजित से रहा है, जो पहले भौतिकवादी था, किंतु पश्चात् केशी मुनि के उपदेश से सम्यग दृष्टि बन गया। यह ग्रंथ पालि 'मिलिंद पंहो' से तुलनीय है।

(3) जीवाजीवाभिगम – में नामानुसार प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद–प्रभेदों का वर्णन किया गया है।

(4) प्रज्ञापना में जैन दर्शन की नाना व्यवस्थाओं का विवरण हुआ है, जिससे यह ग्रंथ भगवती के समान जैन सिद्धांत का ज्ञानकोश ही कहा जा सकता है।

(5) वें, (6) ठे और (7) वें उपांगों के नाम क्रमशः सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति और चंद्रप्रज्ञाप्ति हैं जिनमें उन लोकों का जैन मान्यतानुसार वर्णन किया गया है।

(8) कल्पिका व (9) कल्पावतंसिका में मगधराज श्रेणिक, उसके पुत्र अजातशत्रु एवं उसके पोत्रों के चरित्र वर्णित हैं जिन्होंने अपने अपने कर्मानुसार नरक तथा स्वर्गगतियाँ प्राप्त कीं।

(10) पुष्पिका एवं (11) पुष्पचूला में अनेक स्त्री पुरुषों की धार्मिक साधना, स्वर्गसुखों और महावीर की वंदना के लिये आगमन का वर्णन है।

(12) वृष्णिदशा में द्वारावती के राजा कृष्णवासुदेव एवं तीर्थकर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है।

छह छेदसूत्र

(1) निशीथ, (2) महानिशीथ, (3) व्यवहार, (4) आचारदशा, (5) कल्पसूत्र और (6) पंचकल्प।

इनमें मुनियों की साधनाओं एवं व्रतों का भंग होने पर प्रायश्चित का विचार किया गया है। इन सबमें कल्पसूत्र का सबसे अधिक प्रचार है। मुनि आचार के अतिरिक्त इसमें महावीर तथा ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के चरित्र भी वर्णित हैं।

चार मूलसूत्र

(1) उत्तराध्ययन, (2) दश्वैकालिक, (3) आवश्यक और (4) पिण्डनिर्युक्ति

इन सभी में मुख्यतया मुनि आचार का वर्णन है। इनमें उत्तराध्ययन की बड़ी प्रतिष्ठा है।

दस प्रकीर्णक

(1) चतु:शरण (2) आतुर प्रत्याख्यान, (3) महाप्रत्याख्यान (4) भक्त परीक्षा, (5) तंदुलवैचारिक, (6) संस्तारक (7) गच्छाचर, (8) गणिविद्या, (9) देवंद्रस्तव और (10) मरणसमाधि।

ये सभी प्राय: पद्यात्मक हैं और इनमें मुनियों के पालने योग्य नीति का उपदेश दिया गया है।

दो चूलिका सूत्र

(1) नंदी और (2) अनुयोगद्वार।

नंदी में ज्ञान के भेदों व श्रुतांगों का विस्तार से वर्णन है तथा अनुयोगद्वार में प्रश्नोत्तरों के रूप में नाना विषयों का परिचय कराया गया है जिसमें रसों व संगीत आदि का भी समावेश है।

उपरोक्त ही 45 जैनधार्मिक ग्रंथ है, जो उपलब्ध अर्धमागधी साहित्य कहा जा सकता है। इन ग्रंथों पर निर्युक्ति, चूर्ण, टीका, भाष्य, वृत्ति आदि व्याख्यात्मक विशाल साहित्य प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में पद्य और पद्यात्मक है। समस्त निर्युक्तियाँ भद्रबाहुकृत व चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर कृत मानी जाती हैं। इनके भीतर जैन सिद्धांत के विवेचन के अतिरिक्त आख्यानात्मक रचनाओं का बड़ा वैपुल्य है, जो साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

दिगंबर संप्रदाय में इन 45 आगम ग्रंथों की मान्यता और प्रचार नहीं है। उस परंपरा में लुप्त हुए द्वादशांग श्रुत के आधार से शौरसेनी प्राकृत में स्वतंत्र साहित्य का निर्माण हुआ जिसकी सर्वप्राचीन रचनाएँ पुष्पदंत और भूतबलि कृत कर्मप्राभृत नामक ग्रंथ हैं। इनमें जैन कर्मसिद्धांत का बड़ी व्यवस्था तथा सूक्ष्मता से प्ररूपण किया गया है। इनका रचनाकाल महावीर निर्वाण के 683 वर्ष के शीघ्र ही पश्चात् हुआ सिद्ध होता है। इनपर समय-समय पर अनेक टीकाएँ प्राकृत तथा संस्कृत में लिखी गई, जिनमें से वर्तमान में सुप्रसिद्ध धवल और जयधवल नामक टीकाएँ हैं जिनके कर्ता वीरसेन और जिनसेन राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (9वीं शती) के प्राय: समकालीन थे। प्राचीनता में कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत के पश्चात् कुंदकुंदाचार्य कृत 12-13 शौरसेनी पद्यात्मक रचनाएँ हैं जिनमें प्रधान हैं - प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय और नियमसार। इन सभी में जैन सिद्धांत, आचारशास्त्र, तथा स्थाद्वादात्मक न्याय का निरूपण किया गया है। समयसार,

पंचास्तिका और नियमासार। इन सभी में जैन सिद्धांत, आचारशास्त्र, तथा स्थाद्वादात्मक न्याय का निरूपण किया गया है। समयसार में जैसा आध्यामिक विवेचन किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता।

जैन परंपरा का कथात्मक साहित्य

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त जैन परंपरा का बहुत सा कथात्मक साहित्य भी प्राकृत में पाया जाता है। इस प्रकार की सबसे प्राचीन रचना विमलसूरि कृत पउमचरियं (पद्मचरितम्) है जिसमें कर्ता ने अपने ग्रंथ की समाप्ति का समय दुषमा काल के 530 (वीर निर्वाण 534) वर्ष पश्चात् अर्थात ई. सन् 7 सूचित किया है। किंतु विद्वानों को इसकी वास्तविकता में संदेह होता है और वह मुख्यत: इस आधार पर कि ग्रंथ में प्राकृत भाषा का जो स्वरूप मिलता है वह मध्ययुग के दूसरे स्तर का है, जिसका विकासकाल ई. सन् की दूसरी तीसरी शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। यहाँ हमें भाषा की वे सब प्रवृत्तियाँ पुष्ट रूप से दिखाई देती हैं और जिन्हें प्राय: महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण माना जाता है। पउमचरियं में सात अधिकार हैं, जो 118 उद्देश्यों में विभाजित हैं। समस्त रचना पद्यात्मक है। छंद गाथा है किंतु स्थान-स्थान पर छंदवैचित्र्य भी पाया जाता है। शैली सरस और सरल है तथा उसमें कथात्मकता ही प्रधान है। मूल कथा वाल्मीकि कृत रामायण के सदृश है, किंतु अवांतर बातों में उससे बहुत भिन्नता भी है, जैसे सीता का एक भाई भामंडल भी था। राम ने बर्बर जातियों के मिथिला पर आक्रमण होने पर जनक की सहायता की थी और इसी के उपलक्ष में जनक ने सीता को उन्हें अर्पित करने का संकल्प किया था। सुग्रीव, हनुमान आदि वानर नहीं थे, उनका ध्वजचिह्न वानर होने से वे वानरवंशी कहलाते थे। रावण के दशमुख नहीं थे, किंतु उसके प्राकृतिक एक मुख के अतिरिक्त नवरत्नमय हार में मुख के नव प्रतिबिंब दिखाई देने से वह दशानन कहलाने लगा था। उसकी मृत्यु राम के हाथ से नहीं, किंतु लक्ष्मण के हाथ से हुई। लक्ष्मण नारायण थे और राम बलदेव, इत्यादि।

प्राकृत में दूसरा जैन पुराण है- चउपन्नमहापुरिसरियं (चौपन महापुरुष चरित), जो शीलांकाचार्य द्वारा वि. सं. 925 में रचा गया था। यह प्राय: गद्यात्मक है और इसमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव और 9 वासुदेव - इन 54 महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। वहाँ रामकथानक में वाल्मीकि कृत रामायण से कुछ और बातें भी ली गई हैं, जो पउमचरियं में नहीं हैं। प्राकृत गद्य में रचित

एक और महापुराण भद्रेश्वर कृत कथावलि (12वीं शती) है, जिसमें उपर्युक्त 54 महापुरुषों के अतिरिक्त 9 प्रतिवासुदेवों के चरित्र सम्मिलित होने से समस्त 63 शलाकापुरुषों के चरित्र भी काव्य की रीति से वर्णित पाए जाते हैं। इनमें वर्धमानसूरि कृत आविनाथचरित, सोमप्रभ कृत सुमतिनाथचरित, देवसूरि कृत पद्मप्रभचरित, नेमिचंद्र कृत अनंतनाथचरित, देवंद्रगणि कृत वर्धमान चरित आदि अनेक विशाल रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। ये रचनाएँ प्राय: 12वीं, 13वीं शती ई. की हैं, इनकी भाषा वही प्राकृत है जिसका प्राकृत व्याकरणों में परिचय पाया जाता है और जिसे पाश्चात्य विद्वानों के 'जैन महाराष्ट्रों' की संज्ञा प्रदान की है।

पादलिप्तसूरि कृत तरंगवती कथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। यह मूल ग्रंथ पद्य अप्राप्य है, किंतु इसके आधार से निर्मित नेमिचंद्र कृत तरंगलीला (15वीं शती ई.) नामक रचना उपलब्ध है। इसका कथानक एक उपन्यास है, जिसमें पात्रों के अनेक जन्मों का वृत्तांत गुथा हुआ है और वह बाण कृत कादंबरी का स्मरण कराता है।

प्राकृत गद्य साहित्य में हरिभद्रसूरि कृत समरादित्यकथा (8वीं शती ई.) का विशेष स्थान है। यह धर्मकथा है जिसमें परस्पर विरोधी दो पुरुषों के नौ जन्मांतरों का क्रमश: वर्णन किया गया है। विद्वेषी पुरुष प्रत्येक जन्म में अपने वैरी से ईर्ष्याभाव के कारण उत्तरोत्तर अधोगति को प्राप्त होता है और चत्रिनायक अपने मन तथा चारित्र्य को उत्तरोत्तर शुद्ध बनाता हुआ अंतिम भाव में समरादित्य नाम का राजा होकर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। नौ ही भवों के कथानक अपने-अपने रूप में स्वतंत्र और परिपूर्ण हैं तथा उनमें मानवीय भावनाओं तथा समाज के नाना स्तरों का सुंदर चित्रण पाया जाता है। हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय प्राकृत रचना है-धूर्ताख्यान। इसके पाँच आख्यानों में पाँच धूर्तों ने अपने अपने ऐसे कथानक सुनाए हैं जिनसे अनेक पौराणिक अतिशयोक्तिपूर्ण वृत्तांतों की व्यंग्यात्मक आलोचना होती है। इस प्रकार यह पद्यात्मक रचना प्राकृत में ही नहीं, किंतु प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यंग्यकथा का एक अपूर्व उदाहरण है।

इसी प्रकार की एक कथा उद्योतनसूरि कृत कुवलयमाला (ई. सन् 778) है। इसमें नायिका तथा उसके अन्य साथियों के तीन-चार जन्मांतरों का वर्णन अति रोचकता के साथ ग्रथित किया गया है।

धनेश्वरसूरि कृत सुरसुंदरीचरित्र (11वीं शती ई.)। गाथात्मक कथानक है जिसमें अनेक संयोग और वियोगात्मक प्रेमाख्यान ग्रथित हैं। महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा (11वीं शती ई.) में दश धार्मिक कथाओं का समावेश हुआ है।

हेमचंद्र कृत कुमारपालचरित (12वीं शती ई.) आठ सर्गो का एक काव्य है जिसमें कर्ता के समकालीन गुजरात के राजा कुमारपाल के चरित्रवर्णन के साथ साथ कवि ने अपने प्राकृत व्याकरण के नियमों को उसी क्रम से उदाहृत किया है। इस प्रकार यह संस्कृत के भट्टिकाव्य का स्मरण दिलाता है जिसमें पाणिनीय व्याकरण के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं, यद्यपि यहाँ वे उदाहरण उस प्रकार क्रमबद्ध नहीं हैं जैसे कुमारपालचरित्र में। देवेंद्रसूरि कृत श्रीपालचरित (14वीं शती), देवंद्रगणि कृत रत्नचूडारायचरित, सुमतिसूरि कृत जिनदत्ताख्यान तथा जिनहर्षगणि कृत रत्नशेखरीकथा आदि अनेक प्राकृत कथानक जैन साहित्य में उलब्ध हैं तथा इनके अतिरिक्त व्रतकथाओं के रूप में बहुत सी लघु कथाएँ भी प्राप्त हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत

दंडी ने अपने काव्यादर्श नामक अलंकार शास्त्र में महाराष्ट्री को सेतुबंधादि काव्यों की भाषा कहा है–

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृतष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबंधादि यन्मयम्

इससे प्राकृत भाषा और साहित्य के संबंध की दो महत्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं- एक तो यह कि दंडी के समय (छठीं सातवीं शती) में प्राकृत भाषा का जो स्वरूप विकसित होकर काव्य रचना में उतरने लगा था, उसी का नाम महाराष्ट्री प्राकृत प्रसिद्ध हुआ और दूसरी यह कि इसी प्राकृत में सेतुबंध और उसी के सदृश अन्य भी कुछ रचनाएँ उस समय प्रसिद्ध हो चुकी थीं। सौभाग्यतः दंडी द्वारा उल्लिखित सेतुबंध काव्य अब भी उपलब्ध है और प्राकृत की एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है। इसका उल्लेख वाणभट्ट ने भी हर्षचरित को उत्थानिका में इस प्रकार किया है –

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्जवला।
सागरस्य परं पारं कपिसैनैव सेतुना॥

इससे सिद्ध होता है कि इस सेतुबंध के कर्ता का नाम प्रवरसेन था और बाण के समय (सातवीं शती का मध्य) तक इसकी कीर्ति समुद्रपार संभवतः लंका तक पहुँच चुकी थी। इसका नाम रावणवध या दशमुखवध भी पाया जाता है। कहीं-कहीं इसके कर्ता कालिदास भी कहे गए हैं। इस संबंध के समस्त उल्लेखों के विवेचन से यह बात प्रमाणित होती है कि इस काव्य के कर्ता

वाकाटकवंशी राजा रुद्रसेन के पुत्र प्रवरसेन ही हैं। उनके पिता की मृत्यु उनके बाल्यकाल में ही हो गई थी और उनकी माता प्रभावती गुप्त राज्य का कार्य सँभालती थीं। प्रभावती, गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री थीं। इसीलिये गुप्त सम्राट् ने अपनी सभा के महाकवि कालिदास का कुछ काल के लिये उनके सहायतार्थ भेजा था। अनुमानतः उसी बीच यह काव्यरचना हुई और कालिदास ने उसका कुछ संशोधन भी किया होगा। इस बात का कुछ आभास हमें काव्य के आदि में ही सातवीं गाथा में मिलता है। इन बातों से यह रचना गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल (ई. सन् 380 से 413) की सिद्ध होती है। इस काव्य में 15 आश्वास हैं और प्रत्येक आश्वास के अंतिम पद्य में कवि ने अपने को अनुरागअंक या अनुरागचिह्न द्वारा सूचित किया है। काव्य का कथानक सीता अपहरण के पश्चात् प्रारंभ होता है, जब राम वियोग की व्यथा में हैं। सुग्रीव की सहायता से हुनमान द्वारा लंका में सीता का पता लगाया गया और फिर राम लक्ष्मण वानरसेना सहित लंका पर आक्रमण करने के लिये निकले, किंतु समुद्रतट पर आकर एक बड़ी समस्या समुद्र पार करने की उपस्थित हुई। बड़े प्रयत्न से उस पर सेतु बनाया गया, सेना पार हुई, युद्ध में रावण मारा गया, तथा सीता की अग्निपरीक्षा के पश्चात् उन्हें साथ ले राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को लौट आए। कथानक वाल्मीकि रामायण का ही अनुसरण करता है, किंतु प्रकृति तथा घटनाओं का वर्णन कवि का अपना है। शैली समास और अलंकारप्रचुर है।

दंडी ने महाराष्ट्री को जो सेतुबंधादि काव्यों की भाषा कहा है, उससे उनका तात्पर्य संभवतः सेतुबंध के अतिरिक्त गाथासप्तशती से है जिसका उल्लेख बाण ने हर्षचरित में इस प्रकार किया है–

अविनाशिनमग्राह्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्ध जातिभिः कोषं रत्नेखिसुभाषितैः॥ (हर्षचरित 13)

इसके अनुसार सातवाहन ने सुंदर सुभाषितों का एक कोश निर्माण किया था। आदि में यह कोश सुभाषितकोश या गाथाकोश के नाम से ही प्रसिद्ध था। पीछे क्रमशः सात सौ गाथाओं का समावेश हो जाने पर उसकी सप्तशती नाम से प्रसिद्ध हुई। सातवाहन, शालिवाहन या हाल नरेश भारतीय कथासाहित्य में उसी प्रकार ख्यातिप्राप्त हैं जैसे विक्रमादित्य। वात्स्यायन तथा राजशेखर ने उन्हें कुंतल का राजा कहा है और सोमदेवकृत कथासरित्सागर के अनुसार वे नरवाहनदत के पुत्र थे तथा उनकी राजधानी प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठण) थी।

पुराणों में आंध्र भृत्यों की राजवंशावली में सर्वप्रथम राजा का नाम सातवाहन तथा सत्रहवें नरेश का नाम हाल निर्दिष्ट किया गया है। इन सब प्रमाणों से हाल का समय ई. की प्रथम दो, तीन शतियों के बीच सिद्ध होता है और उस समय गाथा सप्तशती का कोश नामक मूल संकलन किया गया होगा। राजशेखर के अनुसार सातवाहन ने अपने अंत:पुर में प्राकृत भाषा के ही प्रयोग का नियम बना दिया था। एक जनश्रुति के अनुसार उन्हीं के समय में गुणाढ्य द्वारा पैशाची प्राकृत में बृहत्कथा रची गई, जिसके अब केवल संस्कृत रूपांतर बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर मिलते हैं। गाथासप्तशती की प्रत्येक गाथा अपने रूप में परिपूर्ण है और किसी मानवीय भावना, व्यवहार या प्राकृतिक दृश्य का अत्यंत सरसता और सौंदर्य से चित्रण करती है। शृंगार रस की प्रधानता है, किंतु हास्य, कारुण्य आदि रसों का भी अभाव नहीं है। प्रकृतिचित्रण में विंध्यपर्वत ओर गोला (गोदावरी) नदी का नाम पुन:-पुन: आता है। ग्राम, खेत, उपवन, झाड़ी, नदी, कुएँ, तालाब आदि पर पुरुष स्त्रियों के विलासपूर्ण व्यवहार एव भावभंगियों का जैसा चित्रण यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस संग्रह का पश्चात्कालीन साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी के आदर्श पर जैन कवि जयवल्लभ ने 'वज्जालग्गं' नामक प्राकृत सुभाषितों का संग्रह तैयार किया, जिसकी लगभग 800 गाथाओं में से कोई 80 गाथाएँ इसी कोश से उद्धृत की गई हैं। संस्कृत में गोवर्धनाचार्य (11वीं-12वीं शती) ने इसी के अनुकरण पर आर्यासप्तशती की रचना की। हिंदी में तुलसी सतसई और बिहारी सतसई संभवत: इसी रचना से प्रभावित हुई हैं।

प्राकृत में जिस प्रकार सेतुबंध की ख्याति काव्य की दृष्टि से रही है, उसी प्रकार लीलावती की प्रसिद्धि कथा की दृष्टि से पाई जाती है। भोजदेव, हेमचंद्र, वाग्भट्ट आदि संस्कृत के अलंकार शास्त्रकारों ने गद्यमयी कथा का उदाहरण कादम्बरी और पद्यमयी कथा का लीलावती को दिया है। उद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला नामक कथा में कौतूहलकृत प्राकृत भाषा रचित एवं मरहट्ठ देशीवचन निबद्ध शुद्ध सकलकथा का उल्लेख किया है, जिससे इसी रचना का अभिप्राय सिद्ध होता है। उससे इसके कर्ता का नाम कौतूहल और रचनाकाल 778 ई. से पूर्व का निश्चय हो जाता है। यह रचना कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाश में आई है (भारतीय विद्याभवन, बंबई 1949) इसमें कोई परिच्छेदादि विभाग नहीं हैं। लगातार 13000 से कुछ अधिक गाथाओं में कथा समाप्त हुई है। 1330वीं गाथा में कवि ने स्वयं कहा है कि उन्होंने इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में की

है (रइयं मरहट्ठ देसि भासाए)। इस कथा के नायक अस्मक देश के प्रतिष्ठाननगर के राजा सातवाहन हैं। एक महा घटनाचक्र के पश्चात् उनका विवाह सिंहल के राजा शिलामेघ की राजकुमारी लीलावती से हुआ। उनके मंत्रियों के नाम यहाँ पोट्सि और कुमारिल बतलाए गए हैं। ये दोनों नाम गाथासप्तशती व गाथाओं के कर्ताओं में भी पाए जाते हैं। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि इस कथा के कर्ता सातवाहन, शालिवाहन या हाल ही हैं ये तीनों ही नाम इस कथा में यत्र-तत्र आए हैं। कथा बड़ी सरल और सरस शैली में वर्णित है।

महाराष्ट्री प्राकृत का एक उत्कृष्ट काव्य है गउडवहो (गौडवध) जिसके कर्ता वाक्पतिराज ने अपने को कान्यबुज नरेश यशोवर्मा का समकालीन कहा है। उन्होंने भास, संबंधु, हरिच एवं भवभूति आदि कवियों का उल्लेख भी किया है। इन सब लेखों पर से इनका समय 8 वीं शती ई. अनुमान किया जा सकता। इस काव्य में भी कोई परिच्छेद नहीं है। लगातार 1200 से कुछ ऊपर गाथाएँ हैं, जिनमें राजा यशोवर्मा के प्रताप और उनकी जययात्रा तथा गौड़देश के राजा के वध का वर्णन किया गया है।

प्राकृत काव्यरचना की परंपरा 18वीं शती तक बताई जाती है। इस शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत कवि हैं रामपाणिवाद (ई. 1707 से 1775) जिनकी दो प्राकृत रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं। एक है कंसवहो (कंसवध) जिसके चार सर्गो में उद्धव के द्वारा कृष्ण और बलराम को धनुषयज्ञ के बहाने गोकुल से मथुरा ले जाने और उनके द्वारा कंस की मृत्यु का वर्णन भागवत की कथा के आधार किया गया है। शैली में कालिदास, भारवि तथा माघ की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। रामपाणिवाद का दूसरा प्राकाव्य है उषानिरुद्धं, जिसमें प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का बाणाकी पुत्री उषा से विवाह का वर्णन चार सर्गो में किया गया है। यह कथानक भी भागवतादि पुराणों पर आश्रित है, किंतु कवि ने अपनी काव्यप्रतिभा से अच्छा सजाया है। सुदूरवर्ती केरल में 18वीं शती में शुद्ध प्राकृत की ये काव्यरचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि प्राकृत के पठन-पाठन तथा काव्यसृजन का प्रवाह परिस्थिति के अनुसार तीव्र और मंद भले ही पड़ा हो, किंतु वह सर्वथा सूखा नहीं है।

प्राकृत साहित्य का महत्व

इस प्रकार प्राकृत साहित्य अपने रूप एवं विषय की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है तथा भारतीय संस्कृति के सर्वांग परिशीलन के लिये उसका स्थान

अद्वितीय है। उसमें उन लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व किया जाता है जिन्होंने वैदिक काल एवं संभवतः उससे भी पूर्वकाल से लेकर देश के नाना भागों को गंगा यमुना आदि महानदियों के अनुमान प्लावित किया है और उसकी साहित्यभूमि को उर्वरा बनाया हैं। ई. पूर्व छठी शती से लेकर प्रायः वर्तमान तक प्राकृत भाषाओं में ग्रंथरचना होती चली आई है, यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से उन भाषाओं का विकास ई. सन् 1000 तक ही माना जाता है, क्योंकि उसके पश्चात् हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, आदि आधुनिक भाषाओं का युग प्रारंभ होता है। मगध से लेकर दरद प्रदेश (पश्चिमोत्तर भारत) तथा हिमालय से लेकर सिंहल द्वीप तक की नानाविध लोकभाषाओं का स्वरूप प्राकृत में सुरक्षित है। इस साहित्य का बहु भाग यद्यपि जैनधर्म विषयक है, तथापि उसमें तत्कालीन लोकजीवन ऐसा प्रतिबिंबित है जैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें नानाकालीन एवं नानादेशीय ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि महत्वपूर्ण झाँकियाँ दिखाई देती है जिनका भारतीय इतिहास में यथोचित मूल्यांकन करना अभी शेष है। भाषाओं के अतिरिक्त देश के धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विकास की परम्परा और उसकी गुत्थियों को स्पष्टता से समझने में इस साहित्य से बहुमूल्य सहायता मिल सकती है। यह महत्वपूर्ण साहित्य अभी तक पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो सका है। जितना भाग प्रकाशित हुआ है उसका भी समालोचनात्मक रीति से संपादन बहुत कम हुआ है, वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन भी बहुत शेष है।

5

हिंदी साहित्य

हिन्दी भारत और विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। उसकी जड़ें प्राचीन भारत की संस्कृत भाषा में तलाशी जा सकती हैं। परंतु हिन्दी साहित्य की जड़ें मध्ययुगीन भारत की अवधी, मागधी, अर्धमागधी तथा मारवाड़ी जैसी भाषाओं के साहित्य में पाई जाती हैं। हिंदी में गद्य का विकास बहुत बाद में हुआ और इसने अपनी शुरुआत कविता के माध्यम से जो कि ज्यादातर लोकभाषा के साथ प्रयोग कर विकसित की गई।हिंदी का आरंभिक साहित्य अपभ्रंश में मिलता है। हिंदी में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है। गद्य पद्य और चम्पू। हिंदी की पहली रचना कौन सी है इस विषय में विवाद है, लेकिन ज्यादातर साहित्यकार देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखे गये उपन्यास चंद्रकांता को हिन्दी की पहली प्रामाणिक गद्य रचना मानते हैं।

हिन्दी साहित्य के अब तक लिखे गए इतिहासों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य का इतिहास को सबसे प्रामाणिक तथा व्यवस्थित इतिहास माना जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसे हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा था जिसे बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में 1929 ई. में प्रकाशित कराया गया। आचार्य शुक्ल ने गहन शोध और चिन्तन के बाद हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली है।

इतिहास-लेखन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी क्रमिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, जो अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करती चलती है। विवेचन में तर्क

का क्रमबद्ध विकास ऐसे है कि तर्क का एक-एक चरण एक-दूसरे से जुड़ा हुआ, एक-दूसरे में से निकलता दिखता है। लेखक को अपने तर्क पर इतना गहन विश्वास है कि आवेश की उसे अपेक्षा नहीं रह जाती।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक आचार्य शुक्ल का इतिहास इसी प्रकार तथ्याश्रित और तर्कसम्मत रूप में चलता है। अपनी आरम्भिक उपपत्ति में आचार्य शुक्ल ने बताया है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्बित होता है। इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाने में आचार्य शुक्ल का इतिहास और आलोचना-कर्म निहित है।

इस इतिहास की एक बड़ी विशेषता है कि आधुनिक काल के सन्दर्भ में पहुँचकर शुक्ल जी ने यूरोपीय साहित्य का एक विस्तृत, यद्यपि कि सांकेतिक ही, परिदृश्य खड़ा किया है। इससे उनके ऐतिहासिक विवेचन में स्रोत, सम्पर्क और प्रभावों की समझ स्पष्टतर होती है।

परिचय

शुक्ल जी ने इतिहास लेखन का यह कार्य कई चरणों में पूरा किया था। सबसे पहले उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाने हेतु साहित्य के इतिहास पर संक्षिप्त नोट तैयार किया था। इस संक्षिप्त नोट के बारे में शुक्लजी ने खुद लिखा है, 'जिनमें (नोट में) परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरुपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था।'इसी समय के आसपास हिन्दी शब्दसागर का कार्य पूर्ण हुआ और यह निश्चय किया गया कि भूमिका के रूप में 'हिन्दी भाषा का विकास' और 'हिन्दी साहित्य का विकास' दिया जाएगा। आचार्य शुक्ल ने एक नियत समय के भीतर हिन्दी साहित्य का विकास लिखा। कहना न होगा कि इस कार्य में उन्होंने संक्षिप्त नोट से भरपूर मदद ली। इस तरह हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक कच्चा ढाँचा तैयार तो हो गया परन्तु शुक्ल जी इससे पूरी तरह सन्तुष्ट न थे।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी गई शब्दसागर की भूमिका से पूर्व साहित्येतिहासनुमा कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। गार्सा द तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन आदि इस क्षेत्र में कुछ प्रयास कर चुके थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने 1900 से 1913

ई. तक पुस्तकों की खोज का कार्य व्यापक पैमाने पर किया था। इस कार्य से अनेक ज्ञात-अज्ञात रचनाओं और रचनाकारों का पता चला था। इस सामग्री का उपयोग कर मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' तैयार किया था। रीतिकालीन कवियों के परिचयात्मक विवरण देने में शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुविनोद का भरपूर उपयोग किया था। एक तरह से देखा जाये तो आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन से पूर्व दो प्रकार के साहित्यिक स्रोत मौजूद थे। एक तो खुद शुक्लजी द्वारा तैयार की गई नोट और भूमिका तथा दूसरे, अन्य विद्वानों द्वारा लिखी गई पुस्तकें। इन सबकी मदद से आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जो 'शब्द सागर' की भूमिका के छह महीने बाद 1929 ई. में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर हिंदी साहित्य का इतिहास पुस्तक का ऑनलाइन संपादन प्रमुख लेखक तथा भाषा शिक्षक डॉ. सुरेश कुमार मिश्रा, रंगारेड्डी आंध्र प्रदेश के नेतृत्व दल में संपन्न हुआ।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का संशोधित और प्रवर्धित संस्करण सन् 1940 में निकला। यह संस्करण प्रथम संस्करण से भिन्न था। इस संस्करण में अन्य चीजों के अलावा 1940 ई. तक के साहित्य का आलोचनात्मक विवरण भी दे दिया गया था। अब यह साहित्येतिहास की पुस्तक एक मुकम्मल पुस्तक का रूप ले चुकी थी।

संरचना

इस ग्रन्थ में आदिकाल यानी वीरगाथा काल का अपभ्रंश काव्य एवं देश की भाषा काव्य के विवरण के बाद भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा तथा इस काल की अन्य रचनाओं को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। इसके बाद के रीतिकाल के सभी लेखक-कवियों के साहित्य को इसमें समाहित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक काल के गद्य साहित्य, उसकी परंपरा तथा उत्थान के साथ काव्य को अपने विवेचन केन्द्र में रखा है।

काल विभाग

आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत् 1050-1375)

1. सामान्य परिचय
2. अपभ्रंश काव्य

3. देशभाषा काव्य
4. फुटकर रचनाएँ

पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375-1700)

1. सामान्य परिचय
2. ज्ञानाश्रयी शाखा
3. प्रेममार्गी (सूफी) शाखा
4. रामभक्ति शाखा
5. कृष्णभक्ति शाखा
6. भक्तिकाल की फुटकर रचनाएँ

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700-1900)

1. सामान्य परिचय
2. रीति ग्रन्थकार कवि
3. रीतिकाल के अन्य कवि

आधुनिक काल (गद्यकाल, संवत् 1900-1980)

1. सामान्य परिचय–गद्य का विकास
2. गद्य साहित्य का आविर्भाव
3. आधुनिक गद्यसाहित्य परम्परा का प्रवर्तन प्रथम उत्थान (संवत् 1925-1950)
4. गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन–प्रथम उत्थान
5. गद्य साहित्य का प्रसार द्वितीय उत्थान (संवत् 1950-1975)
6. गद्य साहित्य का प्रसार
7. गद्य साहित्य की वर्तमान गति तृतीय उत्थान (संवत् 1975 से)
   काव्यखण्ड (संवत् 1900-1925)
   काव्यखण्ड (संवत् 1925-1950)
   काव्यखण्ड (संवत् 1950-1975)
   काव्यखण्ड (संवत् 1975)
   आदिकाल (1050 विक्रमी संवत से 1375 विक्रमी संवत)

हिन्दी साहित्य के आदिकाल को आलोचक 1400 ईसवी से पूर्व का काल मानते हैं जब हिन्दी का उद्‌भव हो ही रहा था। हिन्दी की विकास-यात्रा दिल्ली, कन्नौज और अजमेर क्षेत्रों में हुई मानी जाती है। पृथ्वीराज चौहान का उस समय दिल्ली में शासन था और चंदबरदाई नामक उसका एक दरबारी कवि हुआ करता

था। चंदबरदाई की रचना 'पृथ्वीराजरासो' है, जिसमें उन्होंने अपने मित्र पृथ्वीराज की जीवन गाथा कही है। 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी साहित्य में सबसे बृहत् रचना मानी गई है। कन्नौज का अंतिम राठौड़ शासक जयचंद था जो संस्कृत का बहुत बड़ा संरक्षक था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य तक के काल को आदिकाल कहा जाता है। इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'वीरकाल' नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त काल।

इस समय का साहित्य मुख्यतः चार रूपों में मिलता हैं–

1. सिद्ध-साहित्य तथा नाथ-साहित्य,
2. जैन साहित्य,
3. चारणी-साहित्य,
4. प्रकीर्णक साहित्य।

सिद्ध और नाथ साहित्य

यह साहित्य उस समय लिखा गया जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि है। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे। उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुंचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ

पन्थ के प्रमुख कवि है। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैन साहित्य

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है। जैन कवियों ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं।

जैन कवियों ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

रासो साहित्य

इस काल में रासो साहित्य की तीन प्रवृतियाँ देखने को मिलती हैं
वीरगाथात्मक - पृथ्वीराज रासो,हम्मीर रासो,परमाल रासो
धार्मिकता - भारतेश्वर बाहुबली रास
श्रृंगारिकता - संदेश रासक

चारणी-साहित्य

इसके अंतर्गत चारण के उपरांत ब्रह्मभट्ट और अन्य बंदीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का तथा ब्रज-प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणत: राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्राय: राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। श्रृंगार और

वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण-रासो, नरपति-नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड आदि मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली के आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हुए है। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। इनकी पदावली का मुख्य रस शृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुन्दर वर्णन, शृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी का सर्वप्रथम कवि

हिन्दी का प्रथम कवि कौन है, इस पर मतैक्य नहीं है। विभिन्न इतिहासकारों के अनुसार हिंदी का पहला कवि निम्नलिखित हैं-

रामकुमार वर्मा के अनुसार - स्वयंभू (693 ई.)
राहुल सांकृत्यायन के अनुसार -सरहपा (769 ई.)
शिवसिंह सेंगर के अनुसार -पुष्पदन्त या पुण्ड (10वीं शताब्दी)
चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के अनुसार -राजा मुंज (993 ई.)
रामचंद्र शुक्ल के अनुसार -राजा मुंज व भोज (993 ई.)

गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार -शालिभद्र सूरि (1184 ई.)
हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- अब्दुल रहमान (13वीं शताब्दी)
बच्चन सिंह के अनुसार-विद्यापति (15वीं शताब्दी)

भक्ति काल (1375 विक्रमी संवत–1700 विक्रमी संवत)

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल 1375 वि. से 1500 वि. तक माना जाता है। यह काल प्रमुख रूप से भक्ति भावना से ओतप्रोत काल है। इस काल को समृद्ध बनाने वाली दो काव्य-धाराएं हैं -1.निर्गुण भक्तिधारा तथा 2.सगुण भक्तिधारा। निर्गुण भक्तिधारा को आगे दो हिस्सों में बांटा जा सकता है, संत काव्य (जिसे ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में जाना जाता है, इस शाखा के प्रमुख कवि, कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, सुन्दरदास, धर्मदास आदि हैं।

निर्गुण भक्तिधारा का दूसरा हिस्सा सूफी काव्य का है। इसे प्रेमाश्रयी शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा के प्रमुख कवि हैं- मलिक मोहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मोहम्मद आदि।

भक्तिकाल की दूसरी धारा को सगुण भक्ति धारा के रूप में जाना जाता है। सगुण भक्तिधारा दो शाखाओं में विभक्त है- रामाश्रयी शाखा, तथा कृष्णाश्रयी शाखा। रामाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, केशवदास, हृदयराम, प्राणचंद चौहान, महाराज विश्वनाथ सिंह, रघुनाथ सिंह।

कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- सूरदास, नंददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुज दास, कृष्णदास, मीरा, रसखान, रहीम आदि। चार प्रमुख कवि जो अपनी-अपनी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये कवि हैं (क्रमशः)

कबीरदास (1399)-(1518)
मलिक मोहम्मद जायसी (1477-1542)
सूरदास (1478-1580)
तुलसीदास (1532-1602)

भक्ति काल क्या है, हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल अपना एक अहम और महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1325 ई से संवत् 1650 ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य(साहित्यिक दो प्रकार के हैं-

धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया:

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। रामानंद ने और उनकी शिष्य-मंडली ने दक्षिण की भक्तिगंगा का उत्तर में प्रवाह किया। समस्त उत्तर-भारत इस पुण्य-प्रवाह में बहने लगा। भारत भर में उस समय पहुंचे हुए संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना करने का प्रचार किया। उनके द्वारा जिस लीला-गान का उपदेश हुआ उसने देशभर को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवियों ने उनके उपदेशों को मधुर कविता में प्रतिबिंबित किया।

भक्ति काल

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल1375 वि. से 1700 वि. तक माना जाता है। यह युग भक्तिकाल के नाम से प्रख्यात है। यह हिंदी साहित्य का श्रेष्ठ युग है। समस्त हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इस युग में प्राप्त होती हैं।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला जिसमें प्रमुख व्यक्तित्व संत कबीरदास

का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गईं। संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं—ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा, प्रथम दोनों धाराएं निर्गुण मत के अंतर्गत आती हैं, शेष दोनों सगुण मत के।

संत कवि

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचय कबीर, कमाल, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, सिंगा जी, हरिदास निरंजनी।

परिचय

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्त-व्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञान संपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन के रूप में ऐसा भारत व्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्ष विधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्य परंपरा में आने वाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों - कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे

ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है। अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ-साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अपने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में

धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कुशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्‌घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में रूपायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधना के मार्ग में आने वाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो, पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं1 इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूर कर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप

लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्त्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेम प्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करने वाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्णली लागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोत: करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान के मधुर रूप का उद्घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्ति काव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्त्व को महत्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित

किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्व भगवान् के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है, जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वय भावना है, जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान् राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्त्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करने वाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरूप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्व उसकी धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

कृष्णाश्रयी शाखा

इस गुण की इस शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ है। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के अंतर्गत अष्टछाप के सूरदास कुम्भनदास रसखान जैसे महान कवि हुए हैं। वात्सल्य एवं शृंगार के सर्वोत्तम भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्रायः मुक्तक काव्य ही लिखा है। भगवान श्रीकृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा

माधुर्य का ही प्राधान्य रहा है। प्राय: सब कवि गायक थे इसलिए कविता और संगीत का अद्भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति द्वारा पल्लवित हुई थी उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। नर-नारी की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रसाप्लावित कर दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड़ गई। इस शाखा के प्रमुख कवि थे, सूरदास, नंददास, मीरा बाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास वगैरह। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्तक हैं- श्री वल्लभाचार्य। उन्होंने निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर श्रीकृष्ण का प्रचार किया। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। जिसका अर्थ है- भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना।

कृष्ण-काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. श्रीकृष्ण-साहित्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का गान करना है। वल्लभाचार्य के सिद्धांतो से प्रभावित होकर इस शाखा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही अधिक वर्ण किया है। सूरदास इसमें प्रमुख है।
2. इस शाखा में वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का ही प्राधान्य है। वात्सल्य भाव के अंतर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं, चेष्टाओं तथा माँ यशोदा के हृदय की झाँकी मिलती है। माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला मुख्य है। सूरदास के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- वात्सल्य के क्षेत्र में जितना अधिक उद्धधाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, इतना किसी ओर कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये।
3. इस धारा के कवियों ने भगवान कृष्ण की उपासना माधुर्य एवं सख्य भाव से की है। इसीलिए इसमें मर्यादा का चित्रण नहीं मिलता।
4. श्रीकृष्ण काव्य में मुक्त रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। काव्य-रचना के अधिकांशत: उन्होंने पद ही चुने हैं।

5. इस काव्य में गीति-काव्य की मनोहारिणी छटा है। इसका कारण है- कृष्ण-काव्य की संगीतात्मकता। कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुंदर उपयोग हुआ है
6. श्रीकृष्ण काव्य में विषय की एकता होने के कारण भावों में अधिकतर एकरूपता पाई जाती है।
7. श्रीकृष्ण को भगवान मानकर पदों की विनयावली द्वारा पूजा जाने के कारण इसमें भावुकता की तीव्रता अधिक पाई जाती है।
8. इस काव्य-धारा में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया गया है।
9. कृष्ण-काव्य-धारा की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का प्रयोग इसमें हुआ है। यह मधुर और सरस है।
10. इस काव्य में रसमयी उक्तियों के लिए तथा साकार ईश्वर के प्रतिपादन के लिए भ्रमरगीत लिखने की परंपरा प्राप्त होती है।
11. श्रीकृष्ण-काव्य स्वतंत्र प्रेम-प्रधान काव्य है। इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को अपनाया है। इसलिए इसमें मर्यादा की अवहेलना की गई है।
12. कृष्ण-काव्य व्यंग्यात्मक है। इसमें उपालंभ की प्रधानता है। सूर का भ्रमरगीत इसका सुंदर उदाहरण है।
13. श्रीकृष्ण काव्य में लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना पाई जाती है। इसका मुख्य कारण है- कृष्ण के लोकरंजक रूप की प्रधानता।
14. श्री कृष्ण-काव्य-धारा में ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गई है। इसमें आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण का महत्व है।
15. प्रकृति-वर्णन भी इस धारा में मिलता है। ग्राम्य-प्रकृति के सुंदर चित्र इसमें हैं।

रामाश्रयी शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुंचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय

प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के सम। न उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं–

राम का स्वरूप–रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं। भक्ति का स्वरूप–इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है–सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है–भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है। लोक-मंगल की भावना–रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है। समन्वय भावना–तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में –

उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है। राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांतः सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही।

काव्य शैलियाँ–रामकाव्य में काव्य की प्रायः सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्रायः सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (ह्दयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है। रस–रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्रायः सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा। भाषा–रामकाव्य में मुख्यतः अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का शृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है। छंद–रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त, सोरठा, तोमर, त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार–रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी मार्गी

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और राम की उपासना करते थे। वे गुरु को बहुत सम्मान देते थे तथा जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढ़ियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे। परंतु अनुभव की दृष्टि से समृद्ध थे। प्रायः सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं - नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं–

भक्ति या उपासना के लिए गुणों की सत्ता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्ति/उपासना की जा सकती है किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है। जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है। जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा है। इस सम्बन्ध में जब हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं–

(क) शांकर अद्वैतवाद में भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु उसे साध्य नहीं माना गया है। संतों ने (सूफियों ने भी) भक्ति को साध्य माना है।

(ख) शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। वहाँ मुक्ति के लिए भक्ति का ग्रहण अपरिहार्य नहीं है। वहाँ भक्ति के महत्व की सीमा प्रतिपादित है। वहाँ भक्ति का महत्व केवल इस दृष्टि से है कि वह अन्त:करण के मालिन्य का प्रक्षालन करने में समर्थ सिद्ध होती है। भक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है। संतों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार या भगवद्-दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है क्योंकि संतों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शन कराती है।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्राय: प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं - मंझन, कुतुबन और उस्मान।

रीति काल (1700-1900) आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार -

हिंदी साहित्य का रीति काल संवत 1700 से 1900 तक माना जाता है यानी 1643ई. से 1843ई. तक। रीति का अर्थ है बना बनाया रास्ता या बंधी-बंधाई परिपाटी। इस काल को रीतिकाल कहा गया क्योंकि इस काल में अधिकांश कवियों ने श्रृंगार वर्णन, अलंकार प्रयोग, छंद बद्धता आदि के बंधे रास्ते

की ही कविता की। हालांकि घनानंद, बोधा, ठाकुर, गोबिंद सिंह जैसे रीति-मुक्त कवियों ने अपनी रचना के विषय मुक्त रखे।

केशव (1546-1618), बिहारी (1603-1664), भूषण (1613-1705), मतिराम, घनानन्द, सेनापति आदि इस युग के प्रमुख रचनाकार रहे।

सन् 1700 ई.(1757 विक्रमी संवत) के आस-पास हिंदी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषत: तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत साहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिंदी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रंथों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिंदी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

इस काल में कई कवि ऐसे हुए हैं, जो आचार्य भी थे और जिन्होंने विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रंथ भी लिखे। इस युग में शृंगार की प्रधानता रही। यह युग मुक्तक-रचना का युग रहा। मुख्यतया कवित्त, सवैये और दोहे इस युग में लिखे गए।

राजा-महाराजा और आश्रयदाता अब केवल काव्यों को पढ़ और सुनकर ही संतुष्ट नहीं होते थे, बल्कि अब वह स्वयं काव्य रचना करना चाहते थे। इस समय पर कवियों ने आचार्य का कर्त्तव्य निभाया।

कवि राजाश्रित होते थे इसलिए इस युग की कविता अधिकतर दरबारी रही जिसके फलस्वरूप इसमें चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्रा तो मिलती है, परंतु कविता साधारण जनता से विमुख भी हो गई।

रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे। केशवदास (ओरछा), प्रताप सिंह (चरखारी), बिहारी (जयपुर, आमेर), मतिराम (बूँदी), भूषण (पन्ना), चिंतामणि (नागपुर), देव (पिहानी), भिखारीदास (प्रतापगढ़-अवध), रघुनाथ (काशी), बेनी (किशनगढ़), गंग (दिल्ली), टीकाराम (बड़ौदा), ग्वाल (पंजाब), चन्द्रशेखर बाजपेई (पटियाला), हरनाम (कपूरथला), कुलपति मिश्र (जयपुर), नेवाज (पन्ना), सुरति मिश्र (दिल्ली), कवीन्द्र उदयनाथ (अमेठी), ऋषिनाथ (काशी), रतन कवि (श्रीनगर-गढ़वाल), बेनी बन्दीजन (अवध), बेनी प्रवीन (लखनऊ), ब्रह्मदत्त (काशी), ठाकुर बुन्देलखण्डी (जैतपुर), बोधा

(पन्ना), गुमान मिश्र (पिहानी) आदि और अनेक कवि तो राजा ही थे, जैसे- महाराज जसवन्त सिंह (तिर्वा), भगवन्त राय खीची, भूपति, रसनिधि (दतिया के जमींदार), महाराज विश्वनाथ, द्विजदेव (महाराज मानसिंह)।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। कविप्रिया में अलंकार और रसिकप्रिया में रस का सोदाहरण निरूपण है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त सवैए में हैं। लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों की यही परंपरा रीतिकाव्य में विकसित हुई। रामचंद्रिका केशव का प्रबंधकाव्य है जिसमें भक्ति की तन्मयता के स्थान पर एक सजग कलाकार की प्रखर कलाचेतना प्रस्फुटित हुई। केशव के कई दशक बाद चिंतामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिंदी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाव्य का शुरूआत केशवदास से न मानकर चिन्तामणि से माना है। उनका कहना है कि -केशवदास जी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। यह निःसन्देह है कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल ऑ.केशव ने ही किया। हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के प्रायःपचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर केशव के आदर्श को लेकर नहीं।' वे कहते है कि-'हिन्दी रीतिग्रन्थो की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि से चली, अतःरीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।'

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन वहाँ उक्तिवैचित्र्य समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर श्रृंगारमूलक और कलावैचित्र्य से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्र और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करने वाला काव्यसाहित्य महत्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। मुगल शासक औरंगजेब की कट्टर सांप्रदायिकता और आक्रामक राजनीति की टकराहट से इस काल में जो विक्षोभ की स्थितियाँ आई उन्होंने कुछ कवियों को वीरकाव्य के सृजन की भी प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों

के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से संबंधित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबंधकाव्य भी निर्मित हुए। इधर के शोधकार्य में इस समय की शृंगारेतर रचनाएँ और प्रबंधकाव्य प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं। इसलिए रीतिकालीन काव्य को नितांत एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। यह प्रधान धारा शृंगारकाव्य की है, जो इस समय की काव्यसंपत्ति का वास्तविक निदर्शक मानी जाती रही है। शृंगारी काव्य तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला वर्ग रीतिबद्ध कवियों का है जिसके प्रतिनिधि केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, देव, मतिराम और पद्माकर आदि हैं। इन कवियों ने दोहों में रस, अलंकार और नायिका के लक्षण देकर कवित्त सवैए में प्रेम और सौंदर्य की कलापूर्ण मार्मिक व्यंजना की है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित शास्त्रीय चर्चा का अनुसरण मात्र इनमें अधिक है। पर कुछ ने थोड़ी मौलिकता भी दिखाई है, जैसे भिखारीदास का हिंदी छंदों का निरूपण। दूसरा वर्ग रीतिसिद्ध कवियों का है। इन कवियों ने लक्षण नहीं निरूपित किए, केवल उनके आधार पर काव्य रचना की। बिहारी इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिन्होंने दोहों में अपनी 'सतसई' प्रस्तुत की। विभिन्न मुद्राओं वाले अत्यंत व्यंजक सौंदर्य चित्रों और प्रेम की भावदशाओं का अनुपम अंकन इनके काव्य में मिलता है। तीसरे वर्ग में घनानंद, बोधा, द्विजदेव ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि आते हैं जिन्होंने स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इनकी रचनाओं में प्रेम की तीव्रता और गहनता की अत्यंत प्रभावशाली व्यंजना हुई है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसल शृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारी जीवन के रमणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों में शृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिंदी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते-आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

इतिहास साक्षी है कि अपने पराभव काल में भी यह युग वैभव विकास का था। मुगल दरबार के हरम में पाँच-पाँच हजार रूपसियाँ रहती थीं। मीना बाजार लगते थे, सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त व्यापार होता था। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- 'वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवादी सम्राट के सभी निषेध प्रयत्न उसमें बह गये। अमीर-उमराव ने उसके निषेध पत्रों को शराब की

सुराही में गर्क कर दिया। विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में थे।' पद्माकर ने एक ही छन्द में तत्कालीन दरबारों की रूपरेखा का अंकन कर दिया है–

गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है, चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्माकर त्यौं गजक गिजा है सजी
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को व्यापत न कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन ऐते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला हैं, दुसाला हैं विसाला चित्रसाला हैं। 6

ऐहलौकिकता, श्रृंगारिकता, नायिकाभेद और अलंकार-प्रियता इस युग की प्रमुख विशेषताएं हैं। प्राय: सब कवियों ने ब्रज-भाषा को अपनाया है। स्वतंत्र कविता कम लिखी गई, रस, अलंकार वगैरह काव्यांगों के लक्षण लिखते समय – विशेषकर श्रृंगार के आलंबनों एवं उद्दीपनों के उदाहरण के रूप में – सरस रचनाएं इस युग में लिखी गईं। भूषण कवि ने वीर रस की रचनाएं भी दीं। भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक समृद्ध रहा। शब्द-शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, न नाटय्शास्त्र का विवेचन किया गया। विषयों का संकोच हो गया और मौलिकता का ह्रास होने लगा। इस समय अनेक कवि हुए, केशव, चिंतामणि, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानंद, पद्माकर आदि। इनमें से केशव, बिहारी और भूषण को इस युग का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। बिहारी ने दोहों की संभावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। आपको रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है।

इस काल के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

(1) रीतिबद्ध कवि

(2) रीतिमुक्त कवि

(3) रीतिसिद्ध कवि

विद्वानों का यह भी मत है कि इस काल के कवियों ने काव्य में मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। घोर श्रृंगारी कविता होने पर भी कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन देखने को नहीं मिलता है।

आधुनिक काल (1900 ईस्वी के पश्चात)

आधुनिक काल हिंदी साहित्य पिछली दो सदियों में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा है। जिसमें गद्य तथा पद्य में अलग-अलग विचार धाराओं का विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग और यथार्थवादी युग, इन चार नामों से जाना गया, वहीं गद्य में इसको, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, रामचंद्र शुक्ल व प्रेमचंद युग तथा अद्यतन युग का नाम दिया गया।

अद्यतन युग के गद्य साहित्य में अनेक ऐसी साहित्यिक विधाओं का विकास हुआ जो पहले या तो थीं ही नहीं या फिर इतनी विकसित नहीं थीं कि उनको साहित्य की एक अलग विधा का नाम दिया जा सके। जैसे डायरी, यात्रा विवरण, आत्मकथा, रूपक, रेडियो नाटक, पटकथा लेखन, फिल्म आलेख इत्यादि।

नव्योत्तर काल (1980 ईस्वी के पश्चात)

नव्योत्तर काल की कई धाराएं हैं - एक, पश्चिम की नकल को छोड़ एक अपनी वाणी पाना, दो, अतिशय अलंकार से परे सरलता पाना, तीन, जीवन और समाज के प्रश्नों पर असंदिग्ध विमर्श।

कंप्यूटर के आम प्रयोग में आने के साथ-साथ हिंदी में कंप्यूटर से जुड़ी नई विधाओं का भी समावेश हुआ है, जैसे- चिट्ठालेखन और जालघर की रचनाएं। हिन्दी में अनेक स्तरीय हिंदी चिट्ठे, जालघर व जाल पत्रिकाएं हैं। यह कंप्यूटर साहित्य केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के हर कोने से लिखा जा रहा है। इसके साथ ही अद्यतन युग में प्रवासी हिंदी साहित्य के एक नए युग का आरंभ भी माना जा सकता है।

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों से प्रभावित हुआ। इसको हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ युग माना जा सकता है, जिसमें पद्य के साथ-साथ गद्य, समालोचना, कहानी, नाटक व पत्रकारिता का भी विकास हुआ।

सं 1800 वि. के उपरांत भारत में अनेक यूरोपीय जातियां व्यापार के लिए आईं। उनके संपर्क से यहां पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ना प्रारंभ हुआ। विदेशियों ने यहां के देशी राजाओं की पारस्परिक फूट से लाभ उठाकर अपने पैर जमाने में सफलता प्राप्त की। जिसके परिणामस्वरूप यहां पर ब्रिटिश साम्राज्य

की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने यहां अपने शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने एवं अपने धर्म-प्रचार के लिए जन-साधारण की भाषा को अपनाया। इस कार्य के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त होती है। इस कारण आधुनिक युग की मुख्य विशेषता गद्य की प्रधानता रही। इस काल में होने वाले मुद्रण कला के आविष्कार ने भाषा-विकास में महान योगदान दिया। स्वामी दयानंद ने भी आर्य समाज के ग्रंथों की रचना राष्ट्रभाषा हिंदी में की और अंग्रेज मिशनरियों ने भी अपनी प्रचार पुस्तकें हिंदी गद्य में ही छपवाईं। इस तरह विभिन्न मतों के प्रचार कार्य से भी हिंदी गद्य का समुचित विकास हुआ।

इस काल में राष्ट्रीय भावना का भी विकास हुआ। इसके लिए शृंगारी ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली उपयुक्त समझी गई। समय की प्रगति के साथ गद्य और पद्य दोनों रूपों में खड़ी बोली का पर्याप्त विकास हुआ। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली के दोनों रूपों को सुधारने में महान प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा द्वारा हिंदी साहित्य की सम्यक संवर्धना की।

इस काल के आरंभ में राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, रामचंद्र शुक्ल आदि ने ब्रजभाषा में काव्य रचना की। इनके उपरांत भारतेंदु जी ने गद्य का समुचित विकास किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसी गद्य को प्रांजल रूप प्रदान किया। इसकी सत्प्रेरणाओं से अन्य लेखकों और कवियों ने भी अनेक भांति की काव्य रचना की। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शर्मा शंकर, ला. भगवान दीन, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपाल शरण सिंह, माखन लाल चतुर्वेदी, अनूप शर्मा, रामकुमार वर्मा, श्याम नारायण पांडेय, दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रभाव से हिंदी-काव्य में भी स्वच्छंद (अतुकांत) छंदों का प्रचलन हुआ। इस काल में गद्य-निबंध, नाटक-उपन्यास, कहानी, समालोचना, तुलनात्मक आलोचना, साहित्य आदि सभी रूपों का समुचित विकास हुआ। इस युग के प्रमुख साहित्यकार निम्नलिखित हैं-

समालोचक

आचार्य द्विवेदी जी, पद्म सिंह शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल,डॉ रामकुमार वर्मा, श्यामसुंदर दास, डॉ रामरतन भटनागर आदि है।

कहानी लेखक

प्रेमचंद, विनोद शंकर व्यास, प्रसाद, पंत, गुलेरी, निराला, कौशिक, सुदर्शन, जैनेंद्र, हृदयेश मनु बुंदेली आदि।

उपन्यासकार

प्रेमचंद, प्रतापनारायण, प्रसाद, उग्र, हृदयेश, जैनेंद्र, भगवतीचरण वर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, गुरुदत्त आदि

नाटककार

प्रसाद, सेठ गोविंद दास, गोविंद वल्लभ पंत, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदय शंकर भट्ट, डॉ राम वर्मा आदि हैं।

निबंध लेखक

आचार्य द्विवेदी, माधव प्रसाद शुक्ल, रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदर दास, पद्म सिंह, अध्यापक पूर्णसिंह आदि।

हिन्दी की विभिन्न बोलियों का साहित्य

भाषा के विकास-क्रम में अपभ्रंश से हिन्दी की ओर आते हुए भारत के अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग भाषा-शैलियां जन्मीं। हिन्दी इनमें से सबसे अधिक विकसित थी। अत: उसको भाषा की मान्यता मिली। अन्य भाषा शैलियां बोलियां कहलाई। इनमें से कुछ में हिंदी के महान कवियों ने रचना की जैसे तुलसीदास ने रामचरित मानस को अवधी में लिखा और सूरदास ने अपनी रचनाओं के लिए बृज भाषा को चुना, विद्यापति ने मैथिली में और मीराबाई ने राजस्थानी को अपनाया।

हिंदी की विभिन्न बोलियों का साहित्य आज भी लोकप्रिय है और आज भी अनेक कवि और लेखक अपना लेखन अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में करते हैं।हिन्दी की अनेक बोलियाँ (उपभाषाएँ) हैं, भारत में कुल 18 बोलियाँ हैं, जिनमें अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, बघेली, हड़ौती,भोजपुरी, हरयाणवी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया, कुमाउँनी, मगही आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ में अत्यंत उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना हुई है। ऐसी बोलियों में ब्रजभाषा और अवधी प्रमुख हैं। यह

बोलियाँ हिन्दी की विविधता हैं और उसकी शक्ति भी। वे हिन्दी की जड़ों को गहरा बनाती हैं। हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं, जो न केवल अपने में एक बड़ी परंपरा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं वरन स्वतंत्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के खिलाफ भी उसका रचना संसार सचेत है।

मोटे तौर पर हिंद (भारत) की किसी भाषा को 'हिंदी' कहा जा सकता है। अंग्रेजी शासन के पूर्व इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता था। पर वर्तमानकाल में सामान्यत: इसका व्यवहार उस विस्तृत भूखंड की भाषा के लिए होता है, जो पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल की तराई, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक फैली हुई है। हिंदी के मुख्य दो भेद हैं - पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी और पूर्वी हिंदी

जैसा ऊपर कहा गया है, अपने सीमित भाषाशास्त्रीय अर्थ में हिंदी के दो उपरूप माने जाते हैं - पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिंदी का विकास शौरसैनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके अंतर्गत पाँच बोलियाँ हैं - खड़ी बोली, हरियाणी, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली। खड़ी बोली अपने मूल रूप में मेरठ, रामपुर, मुरादाबाद, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर,बिजनौर, के आस-पास बोली जाती है। इसी के आधार पर आधुनिक हिंदी और उर्दू का रूप खड़ा हुआ। बांगरू को जाटू या हरियाणवी भी कहते हैं। यह पंजाब के दक्षिण पूर्व में बोली जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार बांगरू खड़ी बोली का ही एक रूप है जिसमें पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण है। ब्रजभाषा मथुरा के आसपास ब्रजमंडल में बोली जाती है। हिंदी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा में उच्च कोटि का काव्य निर्मित हुआ। इसलिए इसे बोली न कहकर आदरपूर्वक भाषा कहा गया। मध्यकाल में यह बोली संपूर्ण हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य हो गई थी। पर साहित्यिक ब्रजभाषा में ब्रज के ठेठ शब्दों के साथ अन्य प्रांतों के शब्दों और प्रयोगों का भी ग्रहण है। कन्नौजी गंगा के मध्य दोआब की बोली है। इसके एक ओर ब्रजमंडल है और दूसरी ओर अवधी का क्षेत्र। यह

ब्रजभाषा से इतनी मिलती-जुलती है कि इसमें रचा गया जो थोड़ा बहुत साहित्य है वह ब्रजभाषा का ही माना जाता है। बुंदेली बुंदेलखंड की उपभाषा है।

पूर्वी हिंदी की तीन शाखाएँ हैं - अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी अर्धमागधी प्राकृत की परंपरा में है। यह अवध में बोली जाती है। इसके दो भेद हैं - पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। अवधी को बैसवाड़ी भी कहते हैं। तुलसी के रामचरितमानस में अधिकांशत: पश्चिमी अवधी मिलती हैं और जायसी के पदमावत में पूर्वी अवधी। बघेली बघेलखंड में प्रचलित है। यह अवधी का ही एक दक्षिणी रूप है। छत्तीसगढ़ी पलामू (बिहार) की सीमा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और पश्चिम में बघेलखंड की सीमा से उड़ीसा की सीमा तक फैले हुए भूभाग की बोली है। इसमें प्राचीन साहित्य नहीं मिलता। वर्तमान काल में कुछ लोकसाहित्य रचा गया है।

हिंदी प्रदेश की तीन उपभाषाएँ और हैं - बिहारी,राजस्थानी और पहाड़ी हिंदी।

बिहारी की तीन शाखाएँ हैं - भोजपुरी, मगही और मैथिली। बिहार के एक कस्बे भोजपुर के नाम पर भोजपुरी बोली का नामकरण हुआ। पर भोजपुरी का प्रसार बिहार से अधिक उत्तर प्रदेश में है। बिहार के शाहाबाद, चंपारन और सारन जिले से लेकर गोरखपुर तथा बनारस कमिश्नरी तक का क्षेत्र भोजपुरी का है। भोजपुरी पूर्वी हिंदी के अधिक निकट है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है। इसमें प्राचीन साहित्य तो नहीं मिलता पर ग्रामगीतों के अतिरिक्त वर्तमान काल में कुछ साहित्य रचने का प्रयत्न भी हो रहा है। मगही के केंद्र पटना और गया हैं। इसके लिए कैथी लिपि का व्यवहार होता है। पर आधुनिक मगही साहित्य मुख्यत: देवनागरी लिपि में लिखे जा रहा है। मगही का आधुनिक साहित्य बहुत समृद्ध है और इसमें प्राय: सभी विधाओं में रचनाओं का प्रकाशन हुआ है।

मैथिली एक स्वतंत्र भाषा है, जो संस्कृत के करीब होने के कारण हिंदी से मिलती-जुलती लगती है। परन्तु, मैथिली हिंदी से अधिक बांग्ला के निकट है।

मैथिली गंगा के उत्तर में दरभंगा के आसपास प्रचलित है। इसकी साहित्यिक परंपरा पुरानी है। विद्यापति के पद प्रसिद्ध ही हैं। मध्ययुग में लिखे मैथिली नाटक भी मिलते हैं। आधुनिक काल में भी मैथिली का साहित्य निर्मित हो रहा है।

मैथिली भाषा भारत और नेपाल के संविधान में राजभाषा के रूप में भी दर्ज है। नेपाल में दूसरी सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा मैथिली है।

राजस्थानी का प्रसार पंजाब के दक्षिण में है। यह पूरे राजपूताने और मध्य प्रदेश के मालवा में बोली जाती है। राजस्थानी का संबंध एक ओर ब्रजभाषा से है और दूसरी ओर गुजराती से। पुरानी राजस्थानी को डिंगल कहते हैं। जिसमें चारणों का लिखा हिंदी का आरंभिक साहित्य उपलब्ध है। राजस्थानी में गद्य साहित्य की भी पुरानी परंपरा है। राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ या विभाषाएँ हैं- मेवाती, मालवी, जयपुरी और मारवाड़ी। मारवाड़ी का प्रचलन सबसे अधिक है। राजस्थानी के अंतर्गत कुछ विद्वान भीली को भी लेते हैं।

पहाड़ी उपभाषा राजस्थानी से मिलती-जुलती हैं। इसका प्रसार हिंदी प्रदेश के उत्तर हिमालय के दक्षिणी भाग में नेपाल से शिमला तक है। इसकी तीन शाखाएँ हैं - पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है जिसे नेपाली और परंबतिया भी कहा जाता है। मध्यवर्ती पहाड़ी कुमायूँ और गढ़वाल में प्रचलित है। इसके दो भेद हैं - कुमाउँनी और गढ़वाली। ये पहाड़ी उपभाषाएँ नागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इनमें पुराना साहित्य नहीं मिलता। आधुनिक काल में कुछ साहित्य लिखा जा रहा है। कुछ विद्वान पहाड़ी को राजस्थानी के अंतर्गत ही मानते हैं। पश्चिमी पहाड़ी हिमाचल प्रदेश में बोली जाती है। इसकी मुख्य उपबोलियों में मंडियाली, कुल्लवी, चाम्बियाली, क्याँथली, कांगड़ी, सिरमौरी, बघाटी और बिलासपुरी प्रमुख हैं।

प्रयोग-क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण

हिन्दी भाषा का भौगोलिक विस्तार काफी दूर-दूर तक है जिसे तीन क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है--

(क) हिन्दी क्षेत्र–हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी की मुख्यत: सत्रह बोलियाँ बोली जाती हैं, जिन्हें पाँच बोली वर्गों में इस प्रकार विभक्त कर के रखा जा सकता है- पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पहाड़ी हिन्दी और बिहारी हिन्दी।

(ख) अन्य भाषा क्षेत्र– इनमें प्रमुख बोलियाँ इस प्रकार हैं- दक्खिनी हिन्दी (गुलबर्गी, बीदरी, बीजापुरी तथा हैदराबादी आदि), बम्बइया हिन्दी, कलकतिया हिन्दी तथा शिलंगी हिन्दी (बाजार-हिन्दी) आदि।

(ग) भारतेतर क्षेत्र–भारत के बाहर भी कई देशों में हिन्दी भाषी लोग काफी बड़ी संख्या में बसे हैं। सीमावर्ती देशों के अलावा यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, रुस, जापान, चीन तथा समस्त दक्षिण पूर्व व मध्य एशिया में हिन्दी बोलने वालों की बहुत बडी संख्या है। लगभग सभी देशों की राजधानियों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी एक विषय के रूप में पढ़ी–पढाई जाती है। भारत के बाहर हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ–ताजुज्बेकी हिन्दी, मारिशसी हिन्दी, फीजी हिन्दी, सूरीनामी हिन्दी आदि हैं।

हिंदी प्रदेशों की हिंदी बोलियाँ

पश्चिमी हिंदी

खड़ी बोली–देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ,बिजनौर, रामपुर और मुरादाबाद।

बृजभाषा–आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मैनपुरी, एटा, हाथरस, बदायूं, बरेली, धौलपुर।

हरियाणवी–हरियाणा और दिल्ली का देहाती प्रदेश।

बुंदेली–झांसी,जालौन, हमीरपुर, ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी, होशंगाबादला

कन्नौजी–उत्तर प्रदेश के इटावा, फर्रूखाबाद, शाहजहांपुर, कानपुर, हरदोई और पीलीभीत, जिलों के ग्रामीणांचल में बहुतायत से बोली जाती है।

पूर्वी हिंदी

अवधी–कानपुर, लखनऊ, बाराबंकी, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फतेहपुर, फैजाबाद, गौंडा, प्रतापगढ़,सुल्तानपुर जिले।

बघेली–रीवा, शहदोल, सतना, मैहर, नागौद।

छत्तीसगढ़ी–बिलासपुर, दुर्ग, रायपुर, रायगढ़, नंदगांव, काकेर, सरगुजा, कोरिया।

राजस्थानी

मारवाड़ी भाषा

जयपुरी

मेवाती

मालवी
पहाड़ी
पूर्वी पहाड़ी, जिसमें नेपाली आती है।
मध्यवर्ती पहाड़ी, जिसमें कुमाऊंनी और गढ़वाली आती है।
पश्चिमी पहाड़ी, जिसमें हिमाचल प्रदेश की अनेक बोलियां आती हैं।
बिहारी भाषा
मैथिली
भोजपुरी
मगही
नागपुरी
अंगिका
बज्जिका
खोरठा
पंचपरगनिया

हिंदीतर प्रदेशों की हिंदी बोलियाँ

बंबइया हिंदी
कलकतिया हिंदी
दक्खिनी

हिंदी बोलियों के प्रचलन वाले प्रमुख देश

उजबेकिस्तान
मारिशस
फिजी
सूरीनाम
मध्यपूर्व
ट्रिनिदाद और टोबैगो
दक्षिण अफ्रीका

6

उर्दू साहित्य

उर्दू भारत तथा पाकिस्तान की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है। इसका विकास मध्ययुग में उत्तरी भारत के उस क्षेत्र में हुआ जिसमें आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पूर्वी पंजाब सम्मिलित हैं। इसका आधार उस प्राकृत और अपभ्रंश पर था जिसे 'शौरसेनी' कहते थे और जिससे खड़ीबोली, ब्रजभाषा, हरियाणी और पंजाबी आदि ने जन्म लिया था। मुसलमानों के भारत में आने और पंजाब तथा दिल्ली में बस जाने के कारण इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा में फारसी और अरबी शब्द भी सम्मिलित होने लगे और धीरे-धीरे उसने एक पृथक् रूप धारण कर लिया। मुसलमानों का राज्य और शासन स्थापित हो जाने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था कि उनके धर्म, नीति, रहन-सहन, आचार-विचार का रंग उस भाषा में झलकने लगे। इस प्रकार उसके विकास में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हो गईं जिनकी आवश्यकता उस समय की दूसरी भारतीय भाषाओं को नहीं थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में बोलचाल में खड़ीबोली का प्रयोग होता था। उसी के आधार पर बाद में उर्दू का साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ। इसमें काफी समय लगा। अतः देश के कई भागों में थोड़े-थोड़े अंतर के साथ इस भाषा का विकास अपने-अपने ढंग से हुआ।

उर्दू का मूल आधार तो खड़ी बोली ही है किंतु दूसरे क्षेत्रों की बोलियों का प्रभाव भी उस पर पड़ता रहा। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योंकि आरंभ में इसको बोलने वाली या तो बाजार की जनता थी अथवा वे सूफी-फकीर थे जो

देश के विभिन्न भागों में घूम-घूमकर अपने विचारों का प्रचार करते थे। इसी कारण इस भाषा के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उसको 'हिंदी', 'हिंदवी' अथवा 'जबाने देहलवी' कहा था, दक्षिण में पहुँची तो 'दकिनी' या 'दक्खिनी' कहलाई, गुजरात में 'गुजरी' (गुजराती उर्दू) कही गई, दक्षिण के कुछ लेखकों ने उसे 'जबाने-अहले-हिंदुस्तान' (उत्तरी भारत के लोगों की भाषा) भी कहा। जब कविता और विशेषतया गजल के लिए इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे 'रेख्ता' (मिली-जुली बोली) कहा गया। बाद में इसी को 'जबाने उर्दू', 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या केवल 'उर्दू' कहा जाने लगा। यूरोपीय लेखकों ने इसे साधारणतः 'हिंदुस्तानी' कहा है और कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसको 'मूस' के नाम से भी संबोधित किया है। इन कई नामों से इस भाषा के ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकार पड़ता है।

उद्गम

उद्गम की दृष्टि से उर्दू वही है, जो देखने में केवल इतना ही अंतर मालूम देता है कि उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक होता है और हिंदी में संस्कृत शब्द अधिक प्रयोग होते हैं। इसकी लिपि देवनागरी से भिन्न है और कुछ मुहावरों के प्रयोग ने इसकी शैली और ढाँचे को बदल दिया है। परंतु साहित्यिक परंपराएँ और रूप सब एक अन्य साँचे में ढले हुए हैं। यह सब कुछ ऐतिहासिक कारणों से हुआ है जिसका ठीक-ठीक अनुमान उसके साहित्य के अध्ययन से किया जा सकता है। परंतु इससे पहले एक बात की ओर और ध्यान देना चाहिए। 'उर्दू' तुर्की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'वह बाजार जो शाही सेना के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहता था'। वहाँ जो मिली-जुली भाषा बोली जाती थी उसको उर्दूवालों की भाषा कहते थे, क्रमशः वही भाषा स्वयं उर्दू कही जाने लगी। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 17वीं शताब्दी के अंत से मिलता है।

उर्दू की प्रारंभिक रूप या तो सूफी फकीरों की बानी में मिलता है या जनता की बोलचाल में। भाषा की दृष्टि से उर्दू के विकास में पंजाबी का प्रभाव सबसे पहले दिखाई पड़ता है, क्योंकि जब 15वीं और 16वीं सदी में इसका प्रयोग दक्षिण के कवि और लेखक साहित्यिक रचनाओं के लिए करने लगे तो उसमें पंजाबीपन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था। 17वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव उर्दू पर पड़ा और बड़े-बड़े विद्वान् कविता में

'ग्वालियरी भाषा' को अधिक शुद्ध मानने लगे, किंतु उसी युग में कुछ विद्वानों और कवियों ने उर्दू को एक नया रूप देने के लिए ब्रज के शब्दों का बहिष्कार किया और फारसी-अरबी के शब्द बढ़ाने लगे। दक्षिण में उर्दू का प्रयोग किया जाता था। उत्तरी भारत में उसे नीची श्रेणी की भाषा समझा गया क्योंकि वह दिल्ली की बोलचाल की उस भाषा से भिन्न थी जिसमें फारसी साहित्य और संस्कृति की झलक थी। बोलचाल में यह भेदभाव चाहे कुछ अधिक दिखाई न दे किंतु साहित्य में शैली और शब्दों के विशेष प्रयोग से यह विभिन्नता बहुत व्यापक हो जाती है और बढ़ते-बढ़ते अनेक साहित्यिक स्कूलों का रूप धारण कर लेती है, जैसे 'दकन स्कूल', 'दिल्ली स्कूल', 'लखनऊ स्कूल', 'बिहार स्कूल' इत्यादि। सच तो यह है कि उर्दू भाषा के बनने में जो संघर्ष जारी रहा उसमें ईरानी और हिंदुस्तानी तत्त्व एक दूसरे से टकराते रहे और धीरे-धीरे हिंदुस्तानी तत्त्व ईरानी तत्त्व पर विजय पाता गया। अनुमान लगाया गया है कि जिस भाषा को उर्दू कहा जाता है उसमें 85 प्रतिशत शब्द वे ही हैं जिनका आधार हिंदी का कोई न कोई रूप है। शेष 15 प्रतिशत में फारसी, अरबी, तुर्की और अन्य भाषाओं के शब्द सम्मिलित हैं, जो सांस्कृतिक कारणों से मुसलमान शासकों के जमाने में स्वाभाविक रूप से उर्दू में घुल-मिल गए थे। इस समय उर्दू पाकिस्तान के अनेक क्षेत्रों में, उत्तरी भारतवर्ष के कई भागों में, कश्मीर और आंध्र प्रदेश में बहुत से लोगों की मातृभाषा है।

शुरुआती रचनाकार

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि मुसलमान भारतवर्ष में आए तो यहाँ के जीवन पर उनका प्रभाव पड़ा और वे स्वयं यहाँ की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होंने यहाँ की भाषाएँ सीखीं और उनमें अपने विचार प्रकट किए। सबसे पहले लाहौर के ख्वाजा मसऊद साद सलमान (1166 ई.) का नाम मिलता है जिन्होंने हिंदी में अपना काव्यसंग्रह एकत्र किया जो दुर्भाग्य से आज प्राप्त नहीं होता। उसी समय में कई सूफी फकीरों के नाम मिलते हैं, जो देश के कोने-कोने में घूम फिरकर जनता में अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। इस बात का अनुमान करना कठिन नहीं है कि उस समय कोई बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी इसलिए वे बोलचाल की भाषा में फारसी अरबी के शब्द मिलाकर काम चलाते होंगे। इसके बहुत से उदाहरण सूफियों के संबंध में लिखी हुई पुस्तकों में मिल जाते हैं। जिन लोगों को कविताएँ अथवा वाक्य मिले हैं उनमें

से कुछ के नाम ये हैं—बाबा फरीद शकरगंज (मृ. 1262 ई.), शेख हमीदउद्दीन नागौरी (मृ. 1274 ई.), शेख शरफुद्दीन अबू अली कलंदर (मृ. 1323 ई.), अमीर खुसरो (मू. 1370 ई.), मखदूम अशरफ जहाँगीर (मृ. 1355 ई.), शेख अब्दुलहक (मृ. 1433 ई.), सैयद गेसू दरज (मृ. 1421 ई.), सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृ. 1504 ई.), शेख बहाउद्दीन बाजन (मृ. 1506 ई.) इत्यादि। इनमे बचन और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जनसाधरण समझ सकता था और जिसका रूप दूसरी बोलियों से भिन्न था।

ऊपर के कवियों में अमरी खुसरो और गेसू दराज उर्दू साहित्य के प्रारंभिक इतिहास में बहुत महत्व रखते हैं। खुसरो की हिंदी रचनाएँ, जिनका कुछ अंश दिल्ली की खड़ीबोली में होने के कारण उर्दू कहा जाता है, देवनागरी में भी प्रकाशित हो चुकी हैं, परंतु गेसू दराज के लेखों और कविताओं की खोज अभी जारी है। इस समय तक 'चक्कीनाम', 'तिलावतुल वजूद', 'मेराजनामा' प्राप्त हो चुकी हैं, इन सब में सूफी विचार प्रकट किए गए हैं। गेसू दराज दिल्ली निवासी थे परंतु उनका ज्यादा समय दक्षिण में बीता, वहीं उनकी मृत्यु हुई और इसी कारण उनकी भाषा को दक्किनी उर्दू कहा जाता है। सच यह है कि उर्दू, जिसने दिल्ली के आसपास एक भाषा का रूप ग्रहण किया था, सेनाओं, सूफी फकीरों, सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों के साथ देश के अन्य भागों में पहुँची और उचित वातावरण पाकर बढ़ी और फैली।

दक्कनी उर्दू

उर्दू के साहित्यिक रूप के प्रारंभिक विकास के चिह्न सबसे पहले दक्षिण और गुजरात में दिखाई पड़ते हैं। गेसू दराज के अतिरिक्त मीरानजी शमसुल उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम, निजामी, फिरोज, महमूद, अमीनुद्दीन आला ने ऐसी रचनाएँ छोड़ी हैं, जो प्रत्येक उर्दू साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त कर सकती हैं। बहमनी राज्य के पतन के पश्चात् जब दक्षिण में पाँच राज्य बने तो उर्दू को उन्नति करने का और अवसर मिला। जनता से संपर्क रखने के लिए बादशाहों ने भी उर्दू को ही मुख्य स्थान दिया। गोलकुंडा और बीजापुर में साहित्य और कला कौशल की उन्नति हुई। दिल्ली से नाता तोड़ने और अपनी स्वाधीनता प्रकट करने के लिए उन्होंने फारसी के विरुद्ध इस देशी भाषा को अपनाया और साहित्यकारों का साहस बढ़ाया। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी सुविख्यात रचना 'नौरस' 16वीं शताब्दी के अंत में प्रस्तुत की। इसमें ब्रज और

खड़ीबोली का मेल है, फारसी अरबी के शब्द भी बीच-बीच में आ जाते हैं। परंतु इसका पूरा ढाँचा एकमात्र हिंदुस्तानी है। इसके समस्त गीत भारतीय संगीत के आधार पर लिखे गए हैं। इसकी भूमिका फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान, 'जहूरी' ने फारसी में लिखी जो 'सेहनस्र' (तीन गद्य) के नाम से आज भी महत्व रखती है। बीजापुर के अन्य दूसरे बादशाह भी स्वयं कवि और कवियों के संरक्षक थे। इनमें 'आतशी', 'मुकीमी', 'अमीन', 'रुसतमी', 'खुशनूद', 'दौलतशाह' के नाम स्मरणीय हैं। बीजापुर के अंतिम दिनों में उर्दू का महान् कवि 'नुसरती' पैदा हुआ जिसने श्रृंगार और वीररस में श्रेष्ठ कविताएँ लिखीं।

बीजापुर की ही भाँति गोलकुंडा में भी बादशाह और जनता सब अधिकतर उर्दू ही में लिख रहे थे। मुहम्मद कुली कुतुबशाह (मृ. 1611 ई.) स्वयं उर्दू, फारसी और तेलुगु में कविताएँ लिखता और कवियों को प्रोत्साहन देता था। उसके काव्यसंग्रह में भारत के मौसमों, फलों, फूलों, चिड़ियों और त्यौहारों का विचित्र वर्णन मिलता है। उसके बाद जो और बादशाह हुए वे भी अच्छे कवि हुए और उनके संग्रह भी विद्यमान हैं। प्रसिद्ध कवियों और लेखकों में 'वजही', 'गौव्वासी', 'इब्ने निशाती', 'गुलामअली' इत्यादि महत्व रखते हैं। इस प्रकार दक्षिण में उर्दू के इस पहले साहित्यिक रूप ने कुछ ऐसी रचनाओं को जन्म दिया जो साहित्य और चिंतन दोनों की दृष्टि से सराहनीय हैं। इन रचनाओं में कुलियाते कघ्लीकघ्तबशाह, कुतुब मुशतरी (वजही), फलबन (इब्नेनिशाती), सैफुल-मुलूक व बदीउल जमाल (गौव्वासी), मनोहर मधुमालती (नुसरती), चंद्रबदन व महयार (मुकीमी) इत्यादि उर्दू की श्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाती हैं।

17वीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व गुजरात, अरकाट, मैसूर और मद्रास तक पहुँच चुकी थी। गुजरात में इसकी उन्नति अधिकतर सूफी कवियों के हाथों हुई जिनमें शेख बाजन, शाहअलोज्यु और खूब मुहम्मद चिश्ती की रचनाएँ बहुत महत्व रखती हैं।

क्योंकि उर्दू की परंपराएँ बन चुकी थीं और लगभग 300 वर्षों में उनका संगठन भी हो चुका था इसलिए जब सन् 1687 ई. में मुगलों ने दक्षिण को अपने राज्य में मिला लिया तब भी उर्दू साहित्य के सोते नहीं सूखे बल्कि काव्य रचना ने और तीव्र गति से उन्नति की। 17वीं शताब्दी के अंत और 18वीं शताब्दी के आरंभ में 'वली' दक्किनी (1707 ई.), 'बहरी', 'वजही', 'वली', 'वेलोरी, 'सेराज' (1763 ई.), 'दाऊद' और 'उजलत' जैसे कवियों ने जन्म लिया। इनमें भी 'वली', 'दक्किनी', 'बहरी', 'सेराज' की गणना उर्दू के बहुत बड़े कवियों

में होती है। 'वली' को तो उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि दिल्ली की बोलचाल की भाषा उर्दू थी परंतु फारसी के प्रभाव से वहाँ के पढ़े-लिखे लोग अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ फारसी से ही पूरी करते थे। वे समझते थे कि उर्दू से इनकी पूर्ति नहीं हो सकती। 'वली' और उनकी कविता के उत्तरी भारत में पहुँचने से यह भ्रम दूर हो गया और सहसा उत्तरी भारत की साहित्यिक स्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। थोड़े ही समय में दिल्ली सैंकड़ों उर्दू कवियों की वाणी से गूँज उठी।

दिल्ली - लखनऊ - अकबराबाद (आगरा)

अब उर्दू के दिल्ली स्कूल का आरंभ होता है। यह बात स्मरणीय है कि यह सामंत काल के पतन का युग था। मुगल राज केवल अंदर से ही दुर्बल नहीं था वरन् बाहर से भी उस पर आक्रमण होते रहते थे। इस स्थिति से जनता की बोलचाल की भाषा ने लाभ उठाया। अगर राज्य प्रबल होता तो न नादिर शाह दिल्ली को लूटता और न फारसी की जगह जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। इस समय के कवियों में खघने आरजू, आबरू, हातिम (1783 ई.), यकरंग, नाजी,मजमून, ताबाँ, (1748 ई.), फुगाँ (1772 ई.), 'मजहर जानेजानाँ', 'फायेज' इत्यादि उर्दू साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। दक्षिण में प्रबंध काव्यों और मरसियों (शोक कविताओं) की उन्नति हुई थी, दिल्ली में गजल का बोलबाला हुआ। यहाँ की प्रगतिशील भाषा हृदय के सूक्ष्म भावों को प्रकट करने के लिए दक्षिणी भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ थी इसलिए गजल की उन्नति स्वाभाविक जान पड़ती है। यह बात भी याद रखने योग्य है कि इस समय की कविताओं में शृंगार रस और भक्ति के विचारों को प्रमुख स्थान मिला है। सैंकड़ों वर्ष के पुराने समाज की बाढ़ रुक गई थी और जीवन के सामने कोई नया लक्ष्य नहीं था इसलिए इस समय की कविता में कोई शक्ति और उदारता नहीं दिखलाई पड़ती। 18वीं शताब्दी के समाप्त होने से पहले एक ओर नई-नई राजनीतिक शक्तियाँ सिर उठा रहीं थी जिससे मुगल राज्य निर्बल होता जा रहा था, दूसरी ओर वह सभ्यता अपनी परंपराओं की रोगी सुंदरता की अंतिम बहार दिखा रही थी। दिल्ली में उर्दू कविता और साहित्य के लिए ऐसी स्थिति पैदा हो रही थी कि उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई। मुगल बादशाह शाहआलम (1759-1806 ई.) स्वयं कविता लिखते थे और कवियों को आश्रय देते थे। इस युग में जिन कवियों ने उर्दू साहित्य का सिर ऊँचा किया,

वे हैं मीर दर्द (1784 ई.), मिर्जा मोहम्मद रफी सौदा (1785 ई.), मीर तकी 'मीर' (1810 ई.) और 'मीर सोज'। इनके विचारों की गहराई और ऊँचाई, भाषा की सुंदरता तथा कलात्मक निपुणता प्रत्येक दृष्टि से सराहनी है। 'दर्द' ने सूफी विचार के काव्य में, 'मीर' ने गजल में और 'सौदा' दूसरी विधाओं के साथ कसीदे के क्षेत्रों में उर्दू कविता की सीमाएँ विस्तृत कर दीं।

परंतु दिन बहुत बुरे आ गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का दबाव बढ़ता जा रहा था और दिल्ली का राजसिंहासन डावाँडोल था। विवश होकर शाह आलम ने अपने को कंपनी की रक्षा में दे दिया और पेंशन लेकर दिल्ली छोड़ प्रयाग में बंदियों की भाँति जीवन बिताने लगे। इसका फल यह हुआ कि बहुत से कवि और कलाकार अन्य स्थानों को चले गए। इस समय कुछ नए-नए राजदरबार स्थापित हो गए थे, जैसे हैदराबाद, अवध, अजीमाबाद (पटना), फर्रुखाबाद इत्यादि। इनकी नई ज्योति और जगमगाहट ने बहुत से कवियों को अपनी ओर खींचा। सबसे अधिक आकर्षक अवध का राजदरबार सिद्ध हुआ, जहाँ के नवाब अपने दरबार की चमक-दमक मुगल दरबार की चमक-दमक से मिला देना चाहते थे। दिल्ली की स्थिति खराब होते ही 'फुगाँ', 'सौदा', 'मीर', 'हसन' (1787 ई.) और कुछ समय बाद मुसहफी (1825 ई.), इंशा (1817 ई.), जुरअत और अन्य कवि अवध पहुँच गए और वहाँ काव्य रचना का एक नया केंद्र बन गया जिसको 'लखनऊ स्कूल' कहा जाता है।

सन् 1775 ई. में लखनऊ अवध की राजधानी बना। उसी समय से यहाँ फारसी-अरबी की शिक्षा बड़े पैमाने पर आरंभ हुई और अवधी के प्रभाव से उर्दू में नई मिठास उत्पन्न हुई। क्योंकि यहाँ के नवाब शिया मुसलमान थे और वह शिया धर्म की उन्नति और शोभा चाहते थे, इसलिए यहाँ को काव्यरचना में कुछ नई प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई जो लखनऊ की कविता को दिल्ली की कविता से अलग करती हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में दिल्ली और लखनऊ स्कूल की तुलना बड़ा रोचक विषय बनी रही है, परंतु सच यह है कि सामंती युग की पतनशील सीमाओं के अंदर दिल्ली और लखनऊ में कुछ बहुत अंतर नहीं था। यह अवश्य है कि लखनऊ में भाषा और जीवन के बाह्य रूप पर अधिक जोर दिया जाता था और दिल्ली में भावों पर। परंतु वस्तुतः दिल्ली की ही साहित्यिक परंपराएँ थीं जिन्होंने लखनऊ की बदली हुई स्थिति में यह रूप धारण किया। यहाँ के कवियों में 'मीर', 'मीर हसन', 'सौदा', 'इंशा', 'मुसहफी', 'जुरअत', के पश्चात 'आतिश' (1847 ई.), 'नासिख' (1838 ई.), 'अनोस' (1874 ई.

), 'दबीर' (1875 ई.), 'वजीर', 'नसीम', 'रश्क', 'रिंद' और 'सबा' ऊँचा स्थान रखते हैं। लखनऊ में मरसिया और मसनवी को विशेष रूप से उन्नति करने का अवसर मिला।

लखनऊ और दिल्ली स्कूलों के बाहर भी साहित्य रचना हो रही थी और ये रचनाएँ राजदरबारों के प्रभाव से दूर होने के कारण जनसाधारण के भावों के निकट थीं। इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण नाम नजीर अकबराबादी का है। उन्होंने रूढ़िवादी विचारों से नाता तोड़कर हिंदुस्तानी जनता के दिलों की धड़कनें अपनी कविताओं में बंद कीं। उनकी शैली और विचारधारा दोनों में भारतीय जीवन की सरलता और उदारता मिलती है।

पश्चिमी संपर्क के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के मध्य में भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू में भी नई चेतना का आंरभ हो गया और आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण नई विचारधारा का उद्भव हुआ। किंतु इससे पहले दिल्ली की मिटती हुई सामंती सभ्यता ने जौक (1852 ई.), मोमिन (1855 ई.), गालिब, (1869 ई.), 'शेफता' (1869) और 'जफर' जैसे कवियों को जन्म दिया। इनमें विशेष रूप से गालिब की साहित्यिक रचनाएँ उस जीवन की शक्तियों और त्रुटियों दोनों की प्रतीक हैं। उनकी महत्ता इसमें हैं कि उन्होंने अपनी कविताओं में हार्दिक भावों और मानसिक स्थितियों, दोनों का समन्वय एक विचित्र शैली में किया है।

उर्दू गद्य

उर्दू गद्य का विकास नए युग से पहले ही हो चुका था, परंतु उसकी उन्नति 19वीं शताब्दी में हुई। दक्षिण में 'मेराजुअल आशिकीन' और 'सबरस' (1634 ई.) के अतिरिक्त कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। उत्तरी भारत में 'तहसीन' की 'नौ तरजे मुरस्सा' (1775 ई.) का नाम लिया जा सकता है। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए फोर्ट विलियम कालेज (1800 ई.) स्थापित किया और गद्य में कुछ पुस्तकें लिखवाई जिसके फलस्वरूप उर्दू गद्य की उस नई शैली क विकास हुआ जो 50 वर्ष बाद पूर्णतया प्रचलित हुई। यहाँ की रचनाओं में मीर अम्मन की 'बागोबहार' हैदरी की 'आराइशे महफिल', अफसोस की 'बागे उर्दू' विला को 'बेताल पचीसी', जवान की 'सिंहासन बत्तीसी', निहालचंद की 'मजहबे इश्क' उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। 19वीं सदी के आरंभ में ही 'इंशा' ने 'रानी केतकी की कहानी' ओर 'दरियाए लताफत' लिखी थीं।

लखनऊ में सबसे महत्वपूर्ण और कथासाहित्य में सुविख्यात पुस्तक 'फिसानए अजायब' 1824 ई. में लिखी गई। इसके लेखक रजब अली बेग 'सुरूर' हैं। अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के कारण नए पाठयक्रम बन रहे थे। इसके लिए 1842 ई. में देहली कालेज में 'वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई जहाँ रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्मशास्त्र इत्यादि के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की लगभग 150 पुस्तकों के उर्दू अनुवाद हुए। इस प्रकार उर्दू गद्य भी उन्नति करता रहा और इस योग्य हुआ कि नई चेतना का साथ दे सके।

नया दौर

उर्दू साहित्य में नवजागृति के वास्तविक चिह्न 1857 के विद्रोह के बाद ही से मिलते हैं। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण स्पष्ट हैं। इन कारणों से जो नई चेतना उत्पन्न हुई उसी ने नए कवियों और साहित्यकारों को नई स्थिति के अनुकूल लिखने का अवसर दिया। इसमें सबसे पहला नाम सर सैयद (1817–1897 ई.) का लिया जा सकता है। उन्हीं के नेतृत्व में हाली, (1887–1914 ई.), आजाद (1833–1910 ई.), नजीर अहमद (1834–1912 ई.) और शिबली (1857–1914 ई.), ने उर्दू गद्य और पद्य में महान रचनाएँ कीं और अंग्रेज साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने साहित्य को समय के अनुकूल बनाया। मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद नई उर्दू कविता के निर्माता थे। वे दिल्ली कालेज में अपने विद्यार्थी जीवन में यूरोपीय विद्वानों और साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। लाहौर में उन्होंने शिक्षा विभाग के अधिकारियों के सहयोग से 'अंजुमने पंजाब' की स्थापना की और 1867 ई. में उसकी एक सभा में व्याख्यान देते हुए उन्होंने उर्दू कविता की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि कविता को मानव जीवन और प्रकृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालना चाहिए जो दुर्भाग्यवश अभी तक उर्दू कविता में नहीं हो सका। हमें अब पुरानी लकीर पीटने के बजाए नए वातावरण की समस्याओं को चिंतन और काव्य का विषय बनाना चाहिए। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप उर्दू कविता में नई शायरी का निर्माण हुआ और बाद के अधिकतर महान कवि इसी से प्रभावित हुए। बहुत से छापेखाने खुल गए थे, पत्र–पत्रिकाएँ निकल रही थीं, नए पुराने का संघर्ष चल रहा था, इसलिए इन लोगों को अपने नए विचार प्रकट करने और उन्हें फैलाने में बड़ी सुविधा हुई। इसी युग में 'सरशार', 'शरर' और मिर्जा रुसवा का नाम भी लिया जा सकता है, जिन्होंने उपन्यास साहित्य में बहूमूल्य वृद्धि की। इस युग को हर प्रकार से

आलोचना का युग कहा जा सकता है, जो कुछ लिखा जा रहा था उसको इतिहास अपनी कसौटी पर परख रहा था। इन महान लेखकों ने आलोचना, निबंध, उपन्यास, जीवनी, कविता के रूप में जो कुछ लिखा है वही आज के नए साहित्य का आधार है। इस युग की महानता यह है कि साहित्यकार ही नवचेतना के अग्रदूत और नेता बन गए थे। राजनीतिक दृष्टि से ये लोग क्रांतिकारी नहीं थे, किंतु इन्हीं की विचारधारा के बाद के लेखकों को प्रेरणा दी।

20वीं सदी का आरंभ होने से बहुत पहले राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो चुकी थी और उसकी झलक इन साहित्यकारों की कृतियों में भी मिल जाती है, परंतु इसका पूरा विकास 'इकबाल' (1873-1938 ई.), 'चकबस्त' (1882-1926), 'प्रेमचंद' (1880-1936 ई.) इत्यादि की कविताओं और लेखों में हुआ। यह भी याद रखना चाहिए कि इसी के साथ साहित्य की पुरानी परंपराएँ भी चल रही थीं और 'अमीर' (1899), 'दाग' (1905), 'जलाल' (1910) और दूसरे कवि भी अपनी गजलों से पढ़ने वालों को मोहित कर रहे थे। किसी न किसी रूप में यह धारा अब तक चली जा रही है। इस शताब्दी के उल्लेखनीय कवियों में 'सफी', दुर्गा सहाय 'सुरूर', 'साकिब', 'महशर', 'अजीज', 'रवाँ, 'हसरत', 'फानी', 'जिगर', 'असर' और लेखकों में हसन निजामी, राशिदुल खैरी, सुलैमान नदवी, अब्दुलहक, रशीद अहमद, मसूद हसन, मौलाना आजाद और आबिद हुसेन हैं।

वर्तमान

वर्ममान काल में साहित्य की सीमाएँ और विस्तृत हुई हैं और हर विचार के लेखक अपने-अपने ढंग से उर्दू साहित्य को दूसरे साहित्यों के बराबर लाने में लगे हुए हैं। कवियों में 'जोश', 'फिराक', 'फैज', 'मजाज', 'हफीज', 'सागर', 'मुल्ला', 'रविश', 'सरदार', 'जमील' और 'आजाद' के नाम उल्लेखनीय हैं, तो गद्य में कृष्णचंद्र 'अश्क', हुसेनी, 'मिंटो', हायतुल्लाह, इस्मत, अहमद नदीम, ख्वाजा अहमद अब्बास अपना महत्व रखते हैं। 20वीं शताब्दी में आलोचना साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। इसमें नियाज, फिराक, जोर, कलीम, मजनूँ, सुरूर, एहतेशाम हुसैन, एजाज हुसैन, मुमताज हुसैन, इबादत इत्यादि ने बहुत सी बहुमूल्य पुस्तकें लिखीं।

20वीं शताब्दी में साहित्यिक स्कूलों के झगड़े समाप्त होकर विचारधाराओं के आधार पर साहित्यरचना होने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य और शिक्षा के प्रभाव

से छायावादी कविता को बढ़ावा मिला। फिर प्रजातंत्र और राष्ट्रीयता की भावना ने प्रगतिशील आंदोलन को जन्म दिया जो 1936 ई. से आरंभ होकर किसी न किसी रूप में अब तक चल रहा है। इस बीच में 'मार्क्स' और 'फ्रायड' ने भी लेखकों को भिन्न-भिन्न समूहों में बाँटा। कुछ लेखक मुक्त छंद में भी कविताएँ लिखने लगे, किंतु इस प्रकार के समस्त प्रयोग अभी तक अपनी जड़ें बहुत गहरी नहीं कर सके हैं।

समकालीन उर्दू साहित्य में नई काव्यरचना प्रयोगवाद, स्पष्टवाद, प्रतीकवाद और निरुद्देश्यवाद से बहुत प्रभावित हो रही है। नई कविता जीवन के सभी मूल्यों का बहिष्कार करती है क्योंकि नए कवि सामाजिक चेतना को काव्यरचना में बाधक मानते हैं। इसके अतिरिक्त नए कवि अपने व्यक्तित्त्व को सिद्ध करने के लिए भाषा, विचार, कला और साहित्य के सभी नियमों को तोड़ना आवश्यक समझते हैं। कुछ लोग इसी को विचार स्वतंत्रता का नाम भी देते हैं, किंतु यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हो सकी कि नई कविता लिखने वाले एक ओर तो साहित्य और कला की सभी परंपराओं से अपना नाता तोड़ रहे हैं और दूसरी ओर वे अपनी विचारधारा को यूरोप और अमरीका के कुछ दार्शनिकों, लेखकों और कवियों की विचारधारा से मिलाने की अनथक चेष्टा कर रहे हैं। यह आधुनिकता उर्दू कहानी और उपन्यास को भी प्रभावित कर रही है। नई कविता, कहानी और उपन्यास को साहित्य के इतिहास में क्या स्थान मिलेगा, इस समय इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

7

मगही साहित्य

मगही साहित्य से तात्पर्य उस लिखित साहित्य से है, जो पाली मागधी, प्राकृत मागधी, अपभ्रंश मागधी अथवा आधुनिक मगही भाषा में लिखी गयी है। 'सा मागधी मूलभाषा' से यह बोध होता है कि आजीवक तीर्थंकर मक्खलि गोसाल, जिन महावीर और गौतम बुद्ध के समय मागधी ही मूल भाषा थी जिसका प्रचलन जन सामान्य अपने दैनंदिन जीवन में करते थे। मौर्यकाल में यह राज-काज की भाषा बनी क्योंकि अशोक के शिलालेखों पर उत्कीर्ण भाषा यही है। जैन, बौद्ध और सिद्धों के समस्त प्राचीन ग्रंथ, साहित्य एवं उपदेश मगही में ही लिपिबद्ध हुए हैं। भाषाविद् मानते हैं कि मागधी (मगही) से ही सभी आर्य भाषाओं का विकास हुआ है।

मगही भाषा की प्राचीनता और क्षेत्र विस्तार

मगही शब्द की उत्पत्ति 'मागधी' से मानी गयी है -

मागधी - मागही - मगही

आदि व्याकरणाचार्य कच्चान ने मगही की प्राचीनता के संबंध में कहा है-

'सा मागधी मूलभाषा, नराया आदि कप्पिका।

ब्रह्मणा चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासि रे।।'

'चूलवंश' में भी मागधी को सभी भाषाओं का मूल भाषा कहा गया है-

'सब्बेसां मूल भाषाय मागधाय निरूक्तियां।'

मौद्गल्यायन, बुद्धघोष और नाट्याचार्य भरतमुनि ने भी मगही को आमजन की लोकप्रिय भाषा के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत नाटकों में आम लोगों की भाषा के रूप में मगही का ही प्रयोग हुआ है।

पश्चिमी भाषाविद् और भारतीय भाषाओं के प्रथम सर्वेक्षक जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1851-1941) ने आधुनिक मगही के दो रूपों को स्वीकार किया है-

(क) पूर्वी मगही

(ख) शुद्ध मगही

पूर्वी मगही झारखंड राज्य के चतरा, हजारीबाग के दक्षिणपूर्व भाग, मानभूम एवं रांची के दक्षिण पूर्व भाग खरसावां तथा दक्षिण में उड़ीसा के मयुरभंज एवं बामड़ा तक बोली जाती है। पश्चिम बंगाल के मालदा जिले का पश्चिमी भाग भी पूर्वी मगही का क्षेत्र है।

शुद्ध मगही अपने क्षेत्र में बोली जाती है। यह पश्चिमी क्षेत्र में पटना, नालन्दा, गया, चतरा,हजारीबाग, मुंगेर, भागलपुर और बेगुसराय जिले में ही नहीं अपितु पूर्व क्षेत्र में रांची के दक्षिण भाग में, सिंहभूम के उत्तरी क्षेत्र में तथा सरायकेला एवं खरसावां के कुछ क्षेत्रों में मगही बोली जाती है।

भाषाविदों ने पूर्वी मगही तथा शुद्ध मगही के साथ ही मिश्रित मगही का एक रूप भी स्वीकार किया है। इसके अनुसार मिश्रित मगही का रूप वहां दिखाई पड़ता है जहां आदर्श मगही अपनी सीमा पर अन्य सहोदर भाषाओं, जैसे मैथिली और भोजपुरी से मिलकर सीमावर्ती बोलियों के रुप में व्यक्त होती है।

आधुनिक काल में मगही भाषा के अनेक रुप दिखाई पड़ते हैं। चूंकि मगही भाषा का क्षेत्र विस्तार बहुत ही व्यापक है, अतः स्थान भेद के कारण इसके रुप में भी कई भेद हो गए हैं। मगही भाषा के क्षेत्रीय भेदों का संकेत कृष्णदेव प्रसाद ने इस प्रकार से किया है -

(क) आदर्श-मगही।

(ख) शुद्ध-मगही।

(ग) टलहा मगही।

(घ) सोनतरिया मगही।

(च) जंगली मगही।

भाषाशास्त्री भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि मगही का परिनिष्ठित रूप पुराने गया जिले में बोला जाता है। ग्रियर्सन ने भी गया जिले की मगही को विशुद्ध मगही माना है।

ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार 'मगही' भाषियों की संख्या लगभग 6,504,817 थी। लेकिन 2001 की जनगणना के अनुसार अब मगही भाषी लोगों की संख्या लगभग 1 करोड़ 30 लाख है। इसे प्रयोग में लेने तथा शुद्ध मगही बोलने वाली आबादी मुख्य रूप से बिहार राज्य के पटना, गया, औरंगाबाद, राजगीर, नवादा, नालंदा, जहानाबाद और अरवल के इलाकों में निवास करती है।

मगही (मागधी) साहित्य का इतिहास

मगही (मागधी) साहित्य का काल विभाजन

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने मगही भाषा के विकासात्मक इतिहास को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है -

1.पाली

1.1 अशोक के पूर्व की मागधी - ई. पू. 600 से 300 तक (अनुपलब्ध)

1.2 अशोक की मागधी - ई. पू. 300 से 200 तक (सुलभ)

1.3 अशोक के पीछे की मागधी - ई. पू. 200 से ई. सन् 200 तक (दुर्लभ)

2.प्राकृत

2.1 प्राकृत मागधी - 0 से 550 ई. तक (सुलभ)

3.अपभ्रंश

अपभ्रंश मागधी - ई. सन् 550 से 1200 ई. तक (अनुपलब्ध)

4. प्राचीन मगही - ई. सन् 800 से 1200 तक (सुलभ)

5. मध्यकालीन मगही - ई. सन् 1200 से 1600 तक (अनुपलब्ध)

6. आधुनिक मगही - ई. सन् 1600 से . . . (जीवित)

राहुल जी के अलावा भाषा-साहित्य के अन्य कई विद्वानों ने मगही का काल विभाजन किया है। कुछ साहित्येतिहासकारों ने तो पं. रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य का काल विभाजन का अनुसरण करते हुए चारण काल, डा. श्रीकांत शास्त्री काल जैसे मगही साहित्य काल की भी परिकल्पना कर ली है। जो न केवल ब्राह्मणवादी व मनुवादी साहित्यिक संकल्पना है बल्कि व्यक्तिगत

महिमामंडन और अवैज्ञानिक भी है। फिर भी अब तक हुए विभाजनों को समेकित करते हुए मगही साहित्य के काल को निम्नांकित तौर पर विभाजित किया जा सकता है –

1. आदि पाली मगही (मागधी) काल
2. प्राकृत मगही (मागधी) काल
3. अपभ्रंश मगही (मागधी) काल
4. प्राचीन मगही (मागधी) काल
5. मध्यकालीन मगही (मागधी) काल
6. आधुनिक मगही (मागधी) काल

आदि पाली मगही (मागधी) काल में मुख्यत: अशोक के पूर्व, समकालीन और परवर्ती समय का साहित्य है। अशोक के पूर्व और परवर्ती काल का मगही साहित्य अनुपलब्ध है परंतु अशोककालीन मगही साहित्य हमें शिलालेखों, गुहालेखों और मौर्यकालीन ग्रंथों में मिलता है।

प्राकृत मगही (मागधी) काल का साहित्य जैन और बौद्ध साहित्य है। सभी जैन आगम और बुद्ध वचन प्राकृत मगही भाषा में ही संग्रहित हुए हैं।

अपभ्रंश मगही (मागधी) काल का समय राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ई0 सन् 550 से 1200 ई. तक का है। दुर्भाग्य से इस काल का मगही साहित्य अनुपलब्ध है।

प्राचीन मगही (मागधी) काल का साहित्य अत्यंत समृद्ध है जिसका आरंभ आठवीं शताब्दी के सिद्ध कवियों की रचनाओं से होता है। इनमें सिद्ध कवि सरहपा सर्वप्रथम हैं जिनकी रचनाएं 'दोहाकोष' में संकलित और प्रकाशित हैं। इसका सम्पादन राहुल सांकृत्यायन ने किया है।

मध्यकालीन मगही (मागधी) काल में सिद्ध साहित्य की परम्परा को मध्यकाल के अनेक संत कवियों ने बरकरार रखा और मगही भाषा में उत्कृष्ट रचनाएं की। बाबा करमदास, बाबा सोहंगदास, बाबा हेमनाथ दास आदि इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय संत कवि हैं जिनकी रचनाएं हमें मगही में प्राप्त होती है।

आधुनिक मगही (मागधी) काल औपनिवेशिक समय में आरंभ होता है। इस काल में लोकभाषा और लोकसाहित्य सम्बन्धी अध्ययन के परिणामस्वरूप मगही के प्राचीन परम्परागत लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाट्यों, मुहावरों, कहावतों तथा पहेलियों का संग्रह कार्य हुआ। साथ ही मगही भाषा में आधुनिक और समकालीन समाज–परिवेश और जीवन संबंधी साहित्य, अर्थात् कविता, कहानी, नाटक,

उपन्यास, एकांकी, ललित निबन्ध आदि की रचनाएं, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन एवं भाषा और साहित्य पर नवीन दृष्टि से अनुसंधान हुए तथा हो रहे हैं।

मगही भाषा-साहित्य

'ए हैंडबुक ऑफ द कैथी कैरेक्टर' (1881), 'लैंग्वेज ऑफ मग्गहिया डोम्स' (1887), अनंत प्रसाद बनर्जी-शास्त्री कृत 'इवोल्यूशन ऑफ मगही' (1922), हरप्रसाद शास्त्री कृत 'मगधन लिटरेचर' (1923), 'द बर्थ ऑफ लोरिक' (मगही) टेक्सट् (1929), प्रो. रामशंकर कृत 'मगही' (1958), प्रो. कपिलदेव सिंह कृत 'मगही का आधुनिक साहित्य' (1969), डा. युगेश्वर पांडेय कृत 'मगही भाषा' (1969), डा. श्रीकांत शास्त्री कृत 'मगही शोध' (1969), सम्पत्ति अर्याणी कृत 'मगही भाषा और साहित्य' (1976),रास बिहारी पांडेय कृत 'मगही साहित्य व साहित्यकार' (1976), रास बिहारी पांडेय कृत 'मगही भाषा का इतिहास' (1980), असीम मैत्र कृत 'मगही कल्चररू ए मोनोग्राफिक स्टडी' (1983), डा. ब्रजमोहन पांडेय 'नलिन' कृत 'मगही अर्थ विज्ञान: विश्लेषणात्मक निर्वचन' (1982), 'मगही भाषा निबंधावली (1984), राहुल सांकृत्यायन कृत 'पाली साहित्य का इतिहास' (1993), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'मगही साहित्य का इतिहास' (1998), डा. सत्येंद्र कुमार सिंह कृत 'मगही साहित्य का इतिहास' (2002), एसईआरटी, बिहार टेक्सट् बुक कमेटी, पटना का 'मगही भासा आउ साहित्य के कथा', सरयू प्रसाद कृत 'मगही फोनोलॉजी: ए डिस्क्रीप्टिव स्टडी (2008), धनंजय श्रेत्रिय संपादित 'मगही भाषा का इतिहास एवं इसकी दिशा और दशा' (2012) और डा. लक्ष्मण प्रसाद कृत 'मगही साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (2014)।

मगही लोक साहित्य

डा. उमाशंकर भट्टाचार्य कृत 'मगही कहावत' (1919), जयनाथ पति और महावीर सिंह कृत 'मगही मुहावरा बुझौवल' (1928), डा. विश्वनाथ प्रसाद कृत 'मगही संस्कार गीत' (1962), सम्पत्ति अर्याणी कृत 'मगही लोक साहित्य' (1965), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'मगध की लोक कथाएं: अनुशीलन' (1996), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'मगही लोक गीत के संग्रह' (1998), इनामुल हक कृत 'मगही लोकगाथाओं का साहित्यिक अनुशीलन' (2006) घमंडीदास कृत मगही रामायण आदि।

मगही गीत-काव्य

प्रबन्ध काव्य एवं महाकाव्य– जनहरिनाथ (हरिनाथ मिश्र) कृत 'ललित भागवत' और 'ललित रामायण' (1893), जवाहिर लाल कृत 'मगही रामायण', रामप्रसाद सिंह कृत 'लोहा मरद' , योगेश्वर प्रसाद सिंह 'योगेश' कृत 'गौतम', योगेश पाठक कृत 'जरासंध' आदि।

खण्ड काव्यरू मिथिलेश प्रसाद 'मिथिलेश' कृत 'रधिया' , रामप्रसाद सिंह कृत 'सरहपाद' आदि।

मुक्तक गीत एवं काव्य– जॉन क्रिश्चियन कृत 'सत्य-शतक' (1861), जगन्नाथ प्रसाद 'किंकर' कृत 'मगही गीत संग्रह' (1934), मुनक्का कुँअर कृत 'मुनक्का कुँअर भजनावली' (1934), श्रीनंदन शाली कृत 'अप्पन गीत', योगेश्वर प्रसाद 'योगेश' कृत 'इँजोर' (1946), रामनरेश प्रसाद वर्मा कृत 'च्यवन', स्वर्णकिरण कृत 'जीवक' , 'सुजाता' , सुरेश दूबे 'सरस' कृत 'निहोरा', कपिलदेव त्रिवेदी 'देव' कृत 'मगही सनेस' (1965), रामविलास रजकण कृत 'वासंती' (1965), रजनीगंधा' (1968), 'दूज के चान' (1979), 'पनसोखा (1979), योगेश्वर प्रसाद 'योगेश' कृत 'लोहचुट्टी' (1966), रामसिंहासन सिंह 'विद्यार्थी' कृत 'जगरना' (1967), रामपुकार सिंह राठौर कृत 'औजन' , राम प्रसाद सिंह कृत 'परस पल्लव' (1977) डॉ. राम सिंहासन सिंह कृत 'अँचरा के छाँव में'(2015) आदि।

मगही कथा (कहानी) साहित्य

तारकेश्वर भारती कृत 'नैना काजर', जितेन्द्र वत्स कृत 'किरिया करम', श्रीकान्त शास्त्री कृत 'मगही कहानी सेंगरन', राजेश्वर पाठक 'राजेश' कृत 'नगरबहू', लक्ष्मण प्रसाद कृत 'कथा थउद', रामनरेश प्रसाद वर्मा कृत 'सेजियादान', अभिमन्यु प्रसाद मौर्य कृत 'कथा सरोवर', अलखदेव प्रसाद अचल कृत 'कथाकली', सुरेश प्रदास निर्द्वंद्व कृत 'मुरगा बोल देलक', राधाकृष्ण कृत 'ए नेउर तू गंगा जा', रामनन्दन कृत 'लुट गेलिया', ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' कृत 'एक पर एक', रामचन्द्र अदीप कृत 'गमला में गाछ' और 'बिखरइत गुलपासा', दयानंद प्रसाद 'बटोही' कृत 'कफनखोर', शिव प्रसाद लोहानी कृत 'घोटाला घर', रामविलास रजकण कृत 'कथांकुर', मिथिलेश कृत 'कनकन सोरा', मुद्रिका सिंह कृत 'जोरन' आदि।

मगही कथा (उपन्यास) साहित्य

मगही में प्रकाशित उपन्यासों की सूची इस प्रकार है – जयनाथ पति कृत 'सुनीता' (1927), 'फूल बहादुर' (1928) और गदहनीत (1937), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'समस्या' (1958), राजेन्द्र प्रसाद यौधेय कृत 'बिसेसरा' (1962), राम नन्दन कृत 'आदमी आ देवता' (1965), बाबूलाल मधुकर कृत 'रमरतिया' (1968), द्वारिका प्रसाद कृत 'मोनामिम्मा' (1969), चन्द्रशेखर शर्मा कृत 'हाय रे उ दिन' , 'सिद्धार्थ' और 'साकल्य' , शशिभूषण उपाध्याय मधुकर कृत 'सँवली' (1977), श्रीकान्त शास्त्री कृत 'गोदना' (1978), उपमा दत्त कृत 'पियक्कड़' , सत्येन्द्र जमालपुरी कृत 'चुटकी भर सेनुर' (1978), रामनरेश प्रसाद वर्मा कृत 'अछरंग' (1980), केदार 'अजेय' कृत 'बस एक्के राह' (1988), रामप्रसाद सिंह कृत 'नरक-सरग-धरती' (1992), रामविलास 'रजकण' कृत 'धूमैल धोती' (1995), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'बराबर के तरहटी में' , 'सरद राजकुमार' और 'मेधा' , मुनिलाल सिन्हा 'सीसम' कृत 'प्राणी महासंघ' (1995), बाबूलाल मधुकर कृत 'अलगंठवा' (2001), आचार्य सच्चिदानन्द कृत 'बबुआनी अइँठन छोड़ऽ' (2004), परमेश्वरी सिंह 'अनपढ़' कृत 'बाबा मटोखर दास' , मुनिलाल सिन्हा 'सीसम' कृत 'गोचर के रंगे गो–गोरखियन के संग' , रामबाबू सिह 'लमगोड़ा' कृत 'उनतीसवाँ व्यास' और 'टुन-टुनमें-टुन', परमेश्वरी सिंह 'अनपढ़' कृत 'शालिस' (2006), रामनारायण सिंह ऊ पासर बाबू कृत 'तारा' (2011) और अश्विनी कुमार पंकज कृत 'खाँटी किकटिया' (2018)।

मगही एकांकी-नाटक

बाबूलाल मधुकर कृत 'नयका भोर', हरिनन्दन किसलय कृत 'अप्पन गाँव', सिद्धार्थ शर्मा कृत 'भगवान तोरे हाथ में', रामबाबू सिंह 'लमगोड़ा' कृत 'गन्धारी के सराप', 'बुज्झल दीया क मट्टी', 'कोसा', अलखदेव प्रसाद अचल कृत 'बदलाव', केशव प्रसाद वर्मा कृत 'सोना के सीता', दिलीप कुमार कृत 'बदलल समाज', अभिमन्यु प्रसाद मौर्य कृत 'प्रेम अइसन होव हे', 'पाँड़े जी के पतरा', सत्येन्द्र प्रसाद सिंह कृत 'अँचरवा के लाज', छोटूराम शर्मा कृत 'मगही के दू फूल', केशव प्रसाद वर्मा कृत 'कनहइया क दरद', रामनन्दन कृत 'कौमुदी महोत्सव', रामनरेश मिश्र 'हंस' कृत 'सुजाता', रघुवीर 'प्रसाद समदर्शी' कृत

'भस्मासुर', गोपाल रावत पिपासा कृत 'आधी रात के बाद', घमंडी राम कृत 'सोहाग के भीख' आदि।

मगही पत्र-पत्रिकाएं

मगध समाचार (अखौरी शिवनंदन प्रसाद, 1880), तरुण तपस्वी (श्रीकान्त शास्त्री, 1945-46), मागधी (श्रीकान्त शास्त्री, 1950), मगही (श्रीकान्त शास्त्री, शिवराम योगी, 1954-58), महान मगध (गोपाल मिश्र केसरी, 1955-56), बिहान (श्रीकान्त शास्त्री, डा. रामनंदन, सुरेश दुबे 'सरस', 1958-78), मगही सनेस (रामलखन शर्मा, 1965), मगही हुंकार (योगेन्द्र, 1966), सरहलोक (1967), सुजाता (बाबूलाल मधुकर, 1967), भोर (आशुतोष चौधरी, नंदकिशोर सिंह, 1968), सारथी (मथुरा प्रसाद नवीन, मिथिलेश, 1971), मगही लोक (रामप्रसाद सिंह, 1977-79), मगही समाचार (सतीश कुमार मिश्र, 1978), भोर (योगेश्वर प्रसाद सिंह योगेश, राम नगीना सिंह 'मगहिया', 1978), मगही समाज (रामप्रसाद सिंह, 1979-81), माँजर (बांके बिहारी 'वियोगी', 1980), कोंपल (जटाधारी मिश्र, 1979-80), मागधी (योगेश्वर प्रसाद सिंह योगेश, 1980), गौतम (श्यामनन्दन शास्त्री हंसराज, 1983), निरंजना (केसरी कुमार, 1983), पनसोखा (आशुतोष चौधरी, 1986), पाटलि (केशव प्रसाद वर्मा, 1989), कचनार (विश्वनाथ, 1992), मगह के हुँकार (सुशील रंजन, 1994), अलका मागधी (अभिमन्यु प्रसाद मौर्य, 1995), अँकुरी (जनार्दन मिश्र 'जलज' 1996), अखरा (ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन', 1998), मगधांचल (जनवादी लेखक संघ, औरंगाबाद, 1998), मगहिया भारती (रामगोपाल पांडेय, 1998), मगधवाणी (1998), मगही पत्रिका (धनंजय श्रोत्रिय, 2001), मगही समाचार (सतीश कुमार मिश्र, 2004), सिरजन (कृष्ण मोहन प्यारे, 2009), टोला-टाटी (सुमंत), बंग मागधी (धनंजय श्रोत्रिय, 2011), मगही मनभावन (ई-पत्रिका, उदय भारती, 2011-15), मगही मंजूषा (उदय शंकर शर्मा, 2017)।

मगही के प्रमुख साहित्यकार

मगही विद्वान और साहित्यकार श्रीकान्त शास्त्री आधुनिक मगही साहित्य की चेतना का आरम्भ श्रीकृष्णदेव प्रसाद की रचनाओं से मानते हैं। आधुनिक मगही साहित्य को विविध विधाओं के जरिए कवियों, लेखकों, नाटककारों,

कहानीकारों, उपन्यासकारों एवं निबन्धकारों ने समृद्ध किया है। इनमें पुरानी और नयी पीढ़ी दोनों साहित्यधर्मी समान रूप से मगही में सृजनरत है। ऐसे मगही साहित्यकारों में जयनाथ पति, श्रीकान्त शास्त्री, श्रीकृष्णदेव प्रसाद, रामनरेश, पाठक, जयराम सिंह, रामनन्दन, मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश', योगेश्वर सिंह 'योगेश', राम नरेश मिश्र 'हंस', बाबूलाल 'मधुकर', सतीश मिश्र, रामकृष्ण मिश्र, रामप्रसाद सिंह, रामनरेश प्रसाद वर्मा, रामपुकार सिंह राठौर, गोवर्धन प्रसाद सदय, सूर्यनारायण शर्मा, मथुरा प्रसाद 'नवीन', श्रीनन्दन शास्त्री, सुरेश दूबे 'सरस', शेषानन्द मधुकर, रामप्रसाद पुण्डरीक, अनिक विभाकर, मिथिलेश जैतपुरिया, राजेश पाठक, सुरेश आनन्द पाठक, देवनन्दन विकल, रामसिंहासन सिंह विद्यार्थी, श्रीधर प्रसाद शर्मा, कपिलदेव प्रसाद त्रिवेदी, 'देव मगहिया', हरिश्चन्द्र प्रियदर्शी, हरिनन्दन मिश्र 'किसलय', रामगोपाल शर्मा 'रुद्र', रामसनेही सिंह 'सनेही', सिद्धेश्वर पाण्डेय 'नलिन', राधाकृष्ण राय आदि के नाम प्रमुख हैं।

8

ओड़िया साहित्य

1500 ईसवी तक उड़िया साहित्य में धर्म, देव-देवी का चित्रण ही मुख्य ध्येय हुआ करता था। पर साहित्य तो सम्पूर्ण रूप से काव्य पर ही आधारित था। उड़िया भाषा के प्रथम महान कवि झंकड़ के सारला दास रहे जिन्हें 'उड़िसा के व्यास' के रूप में जाना जाता है। इन्होने देवी की स्तुति में चंडी पुराण व विलंका रामायण की रचना की थी। 'सारला महाभारत' आज भी घर-घर में पढ़ा जाता है। अर्जुन दास द्वारा लिखित 'राम-विभा' को उड़िया भाषा की प्रथम गीतकाव्य या महाकाव्य माना जाता है।

उड़िया साहित्य को काल और प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है–

1. आदियुग (1050-ई.),
2. मध्ययुग (1550- ई.),
   (क) पूर्व मध्ययुग -- भक्तियुग या धार्मिक या पंचसखा युग,
   (ख) उत्तर मध्ययुग, रीति युग या उपेंद्रभंज युग',
3. आधुनिक युग या स्वातंत्र्य युग
   (1850 से वर्तमान समय तक)

आदियुग

आदियुग में सारलापूर्व साहित्य भी अंतर्भुक्त है, जिसमें 'बौद्धगान और दोहा', गोरखानाथ का 'सप्तांगयोगधारणम्', 'मादलापांजि', 'रुद्रसुधानिधि' तथा

'कलाश चौतिशा' आते हैं। 'बौद्धगान ओ दोहा' भाषादृष्टि, भावधारा तथा ऐतिहासिकता के कारण उड़ीसा से घनिष्ट रूप में संबंधित है। 'सप्तांगयोगधारणम्' के गोरखनाथकृत होने में संदेह है। 'मादलापांजि' जगन्नाथ मंदिर में सुरक्षित है तथा इसमें उड़ीसा के राजवंश और जगन्नाथ मंदिर के नियोगों का इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदंति के अनुसार गंगदेश के प्रथम राजा चोल गंगदेव ने 1042 ई. (कन्या 24 दिन, शुक्ल दशमी दशहरा के दिन) 'मादालापांजि' का लेखन प्रारंभ किया था, किंतु दूसरा मत है कि यह मुगलकाल में 16वीं शताब्दी में रामचंद्रदेव के राजत्वकाल में लिखवाई गई थी। 'रुद्र-सुधा-निधि' का पूर्ण रूप प्राप्त नहीं है और जो प्राप्त है उसका पूरा अंश छपा नहीं है। यह शैव ग्रंथ एक अवधूत स्वामी द्वारा लिखा गया है। इसमें एक योगभ्रष्ट योगी का वृत्तांत है। इसी प्रकार वत्सादास का 'कलाश चौतिशा' भी सारलापूर्व कहलाता है। इसमें शिव जी की वरयात्रा और विवाह का हास्यरस में वर्णन है।

वस्तुतः सारलादास ही उड़िया के प्रथम जातीय कवि और उड़िया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि हैं। कटक जिले की झंकड़वासिनी देवी चंडी सारला के वरप्रसाद से कवित्व प्राप्त करने के कारण सिद्धेश्वर पारिडा ने अपने को 'शूद्रमुनि' सारलादास के नाम से प्रचारित किया। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं–1. 'विलंका रामायण', 2. महाभारत और 3. चंडीपुराण। कुछ लोग इन्हें कपिलेन्द्रदेव (1435-1437) का तथा कुछ लोग नरसिंहदेव (1328-1355 ई) का समकालीन मानते हैं।

इस युग का अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्यग्रंथ भी मिलता है तथा चैतन्यदासरचित 'विष्णुगर्भ पुराण' और 'निर्गुणमाहात्म्य' अलखपंथी या निर्गुण संप्रदाय के दो ग्रंथ भी पाए जाते हैं।

मध्ययुग

इसके दो विभाग हैं- (क) पूर्व मध्ययुग अथवा भक्तियुग तथा (ख) उत्तरमध्ययुग अथवा रीतियुग।

पूर्व मध्ययुग

इस युग में में पंचसखाओं के साहित्य की प्रधानता है। ये पंचसखा हैं - बलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवन्तदास, अनन्तदास और अच्युतानन्ददास। चैतन्यदास के साथ सख्य स्थापित करने के कारण ये 'पंचसखा' कहलाए। वे 'पंच शाखा'

भी कहलाते हैं। इनके उपास्य देवता थे पुरी के जगन्नाथ, जिनकी उपासना शून्य और कृष्ण के रूप में ज्ञानमिश्रा योग-योगप्रधान भक्ति तथा कायसाधना द्वारा की गई। पंचसखाओं में से प्रत्येक ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें से कुछ तो मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

16वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में दिवाकरदास ने 'जगन्नाथचरितमृत' के नाम से पंचसखाओं के जगन्नाथदास की जीवनी लिखी तथा ईश्वरदास ने चैतन्यभागवत लिखा। सालवेग नामक एक मुसलमान भक्तकवि के भी भक्तिरसात्मक अनेक पद प्राप्त हैं।

इसी युग में शिशुशंकरदास, कपिलेश्वरदास, हरिहरदास, देवदुर्लभदास, तथा प्रतापराय की क्रमश–'उषाभिलाष', 'कपटकेलि', 'चंद्रावलिविलास', 'रहस्यमंजरी' और 'शशिसेणा' नामक कृतियाँ भी उपलब्ध हैं।

रीतियुग

इस युग में में पौराणिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के काव्य हैं। नायिकाओं में सीता और राधा का नखशिख वर्णन किया गया है। इस युग का काव्य, शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दावली और श्रृंगाररस से पूर्ण है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-भेद आदि को विशेष महत्व दिया गया। उपेंद्रभंज ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। अतः इस युग का नाम भंजयुग पड़ गया, किंतु यह काल इसके पहले शुरू हो गया था। उपेंद्रभंज के पूर्व के कवि निम्नांकित हैं–

धनंजयभंज- ये उपेंद्रभंज के पितामह और घुमसर के राजा थे। इनकी कृतियाँ हैं–रघुनाथविलास काव्य, त्रिपुरसुंदरी, मदनमंजरी, अनंगरेखा, इच्छावती, रत्नपरीक्षा, अश्व और गजपरीक्षा आदि। कुछ लक्षणग्रंथ और चौपदीभूषण आदि संगीतग्रंथ भी हैं।

दीनकृष्णदास (1651-1703)- व्यक्तित्त्व के साथ-साथ इनका काव्य भी उच्च कोटि का था। 'रसकल्लोल', 'नामरत्नगीता', 'रसविनोद', 'नावकेलि', 'अलंकारकेलि', 'आर्तत्रण', 'चौतिशा' आदि इनकी अनेक कृतियाँ प्राप्य हैं।

वृंदावती दासी, भूपति पंडित तथा लोकनाथ विद्यालंकार की क्रमशः–'पूर्णतम चंद्रोदय', प्रेमपंचामृत' तथा 'एक चौतिशा' और 'सर्वागसुंदरी', 'पद्मावती परिणय', 'चित्रकला', 'रसकला' और 'वृंदावन-विहार-काव्य', नाम की रीतिकालीन काव्यलक्षणों से युक्त कृतियाँ मिलती हैं।

उपेंद्रभंज (1685-1725) - ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके कारण ही रीतियुग को भंजयुग भी कहा जाता है। शब्दवैलक्षण्य, चित्रकाव्य एवं छंद, अलंकार आदि के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी अनेक प्रतिभाप्रगल्भ कृतियों ने उड़िया साहित्य में इनकों सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया है। 'वैदेही-विलास', 'कलाकउतुक', 'सुभद्रापरिणय', 'ब्रजलीला', 'कुंजलीला', आदि पौराणिक काव्यों के अतिरिक्त लावण्यवती, कोटि-ब्रह्मांड-सुंदरी, रसिकहारावली आदि अनेक काल्पनिक काव्यग्रंथ भी हैं। इन काव्यों में रीतिकाल के समस्त लक्षणों का संपूर्ण विकास हुआ है। कहीं-कहीं सीमा का अतिक्रमण कर देने के कारण अश्लीलता भी आ गई है। इनका 'बंधोदय' चित्रकाव्य का अच्छा उदाहरण है। 'गीताभिधान' नाम से इनका एक कोशग्रंथ भी मिलता है जिसमें कांत, खांत आदि अंत्य अक्षरों का नियम पालित है। 'छंदभूषण' तथा 'षड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और भी पाई जाती हैं।

भंजकालीन साहित्य के बाद उड़िया साहित्य में चैतन्य प्रभावित गौड़ीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनों का समन्वय देखने में आता है। इस काल के काव्य प्रायः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। इनमें प्रधान हैं–सच्चिदानंद कविसूर्य (साधुचरणदास), भक्तचरणदास, अभिमन्युसामंत सिंहार, गोपालकृष्ण पट्टनायक, यदुमणि महापात्र तथा बलदेव कविसूर्य आदि।

इस क्रम में प्रधानतया और दो व्यक्ति पाए जाते हैं–(1) ब्रजनाथ बडजेना और (2) भीमभोई। ब्रजनाथ बडजेना ने 'गुंडिचाविजे' नामक एक खोरता (हिंदी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं–'समरतंरग' और 'चतुरविनोद'। भीमभोई जन्मांध थे और जाति के कंध (आदिवासी) थे। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुतिचिंतामणि', 'ब्रह्मनिरूपण गीता' और अनके भजन पाए जाते हैं। उड़िया में वे अत्यंत प्रख्यात हैं।

आधुनिक युग

यद्यपि ब्रिटिश काल से प्रारंभ होता है, किंतु अंग्रेजी का मोह होने के साथ ही साथ प्राचीन प्रांतीय साहित्य और संस्कृत से साहित्य पूरी तरह अलग नहीं हुआ। फारसी और हिंदी का प्रभाव भी थोड़ा बहुत मिलता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय हैं। ये स्कूल इंस्पेक्टर थे। इन पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इनके लिखे 'पार्वती', 'नंदिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी', आदि

ऐतिहासिक काव्य हैं। 'महामात्र' प्रथम अमित्रक्षर छंद में लिखित महाकाव्य है, जिस पर मिल्टन का प्रभाव है। इन्होंने मेघदूत, वेणीसंहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। इनकी अनेक फुटकल रचनाएँ भी हैं। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं।

ओड़िया उपन्यास सम्राट फकीर मोहन सेनापति

बंगाल से राजेंद्रलाल मित्र द्वारा चलने वाले 'उड़िया एक स्वतंत्र भाषा नहीं है' आंदोलन का करारा जवाब देने वालों में उड़िया के उपन्यास सम्राट् फकीर मोहन सेनापति प्रमुख हैं। उपन्यास में ये बेजोड़ हैं। 'लछमा', 'मामु', 'छमाण आठगुंठ' आदि उनके उपन्यास हैं। 'गल्पस्वल्प' नाम से दो भागों में उनके गल्प भी हैं। उनकी कृति 'प्रायश्चित्त' का हिंदी में अनुवाद भी हुआ है। पद्य में 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला' आदि अनेक ग्रंथ हैं। उन्होंने छांदोग्यउपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है।

इस काल के एक और प्रधान कवि मधुसूदन राय हैं। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं। इन पर रवींद्रनाथ का काफी प्रभाव है।

इस काल में काव्य, उपन्यास और गल्प के समान नाटकों पर भी लोगों की दृष्टि पड़ी। नाटककारों में प्रधान रामशंकर राय हैं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, गीतिनाट्य, प्रहसन और यात्र आदि भिन्न भिन्न विषयों पर रचनाएँ की हैं। 'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'कंसवध', 'युगधर्म' आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

राधानाथ युग के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं गंगाधर मेहेर, पल्लीकवि नंदकिशोर वल, (प्राबंधिक और संपादक) विश्वनाथ कर, व्यंगकार गोपाल चंद्र प्रहराज आदि।

इसके उपरांत गोपबंधुदास ने सत्यवादी युग का प्रवर्तन किया। इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ 'धर्मपद', 'बंदीर आत्मकथा', 'कारा कविता' आदि हैं। नीलकंठ दास तथा गोदावरीश मिश्र आदि इस युग के प्रधान साहित्यिक हैं। पद्मचरण पट्टनायक और कवयित्री कुंतलाकुमारी सावत छायावादी साहित्यकार और लक्ष्मीकांत महापात्र हास्यरसिक हैं।

सत्यवादी युग के बाद रोमांटिक युग आता है। इसके प्रधान कवि मायाधर मानसिंह हैं। उनके 'धूप', 'हेमशस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रंथ हैं।

कालिंदीचरण पाणिग्राही, वैकुंठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र, शरच्चंद्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय ने 'सबुज कवित्व' से सबुज युग का श्रीगणेश किया है। 'वासंती' उपन्यास इनके संमिलित लेखन का फल है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। सच्चिदानंद राउतराय इस युग के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं में 'पल्लीचित्र', 'पांडुलिपि' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समय में उपन्यासकार गोपीनाथ महांति, कान्हुचरण महांति, नित्यानंद महापात्र, कवि राधामोहन गडनायक, क्षुद्रगाल्पिक, गोदावरीश महापात्र आदि हैं।

9

बंगाली साहित्य

बँगला भाषा का साहित्य स्थूल रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

1. प्राचीन (950–1,200 ई.),
2. मध्य कालीन (1,200–1,800 ई.) तथा
3. आधुनिक–(1,800 के बाद)।

प्रारंभिक साहित्य बंगाल के जीवन तथा उसके गुण–दोष–विवेचन की दृष्टि से ही अधिक महत्वपूर्ण है। चंडीदास, कृत्तिवास, मालाधर, पिपलाई, लोचनदा, ज्ञानदास, कविकंकण, मुकुंदराम, कृष्णदास, काशीराम दास, भारतचंदराय, गुणाकार आदि कवि इसी काल में हुए हैं।

प्राचीन बँगला साहित्य (950 से 1200 ई. तक)

भारत के अन्य विद्वानों की तरह बंगाल के भी विद्वान् संस्कृत की रचनाओं को ही विशेष महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में वही 'अमर भारती' का पद सुशोभित कर सकती थी। बोलचाल की भाषा को वे परिवर्तनशील और अस्थायी मानते थे। किंतु जनसाधारण तो अपने विचारों और भावों को प्रकट करने के लिए उसी भाषा को पसंद कर सकते थे जो उनके हृदय के अधिक निकट हो। उसी भाषा में वे उपदेश और शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। पुरातन बंगाल में इस तरह की दो भाषाएँ प्रचलित थीं–एक तो स्थानीय भाषा, जिसे हम प्राचीन बँगला कह

सकते हैं, दूसरी अखिल भारतीय जन साहित्यिक भाषा, जो सामान्यतः समूचे उत्तर भारत में समझी जा सकती थी। इसे नागर या शौरसेनी अपभ्रंश कह सकते हैं, जो मोटे तौर से पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा राजस्थान की भाषा थी। सामान्य जनता के लिए इन दोनों भाषाओं में थोड़ा सा साहित्य विद्यमान था। प्रेम और भक्ति के गीत, कहावतें और लोकगीत मातृभाषा में पाए जाते थे। बौद्ध तथा हिंदू धर्म के उपदेशक जनता में प्रचार करने के लिए जो रचनाएँ तैयार करते थे वे प्रायः पुरानी बँगला तथा नागर अपभ्रंश, दोनों में होती थीं।

पुरातन बँगला की उपलब्ध रचनाओं में 47 चर्यापद विशेष महत्व के हैं। ये प्रायः आठ (या कुछ अधिक) पंक्तियों के रहस्यमय गीत हैं जिनका संबंध महायान बौद्धधर्म तथा नाथपंथ, दोनों से संबद्ध गुप्त संप्रदाय से है। इनका सामान्य बाहरी अर्थ तो प्रायः यों ही समझ में आ जाता है और गूढ़ अर्थ भी साथ की संस्कृत टीका की सहायता से, जो इस संग्रह के साथ ही श्री हरप्रसाद शास्त्री को प्राप्त हुई थी, समझा जा सकता है। इन गीतों या पद्यों में 'कविता' नाम की चीज तो नहीं है किंतु जीवन की एकाध झलक अवश्य किसी किसी में देख पड़ती है। इससे मिलती जुलती कुछ अन्य पद्यात्मक रचनाएँ नेपाल से भी डॉ. प्रबोधचंद्र बागची तथा राहुल सांकृत्यायन आदि को प्राप्त हुई थीं'।

12वीं शताब्दी के अंत तक पुरातन बँगला में यथेष्ट साहित्य तैयार हो चुका था जिससे उस समय के एक बंगाली कवि ने यह गर्वोक्ति की थी 'लोग जैसा गंगा में स्नान करने से पवित्र हो जाते हैं, वैसे ही वे 'बंगाल वाणी' में स्नात होकर पवित्र हो सकते हैं।' किंतु दुर्भाग्यवश उक्त 47 चर्यापदों तथा थोड़े से गीतों या पदों के सिवा उस काल की अन्य बहुत ही कम रचनाएँ आज उपलब्ध हैं।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव बंगाल के हिंदू राजा लक्ष्मण सेन (लगभग 1180 ई.) के शासनकाल में विद्यमान थे। राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन करने वाले इस सुंदर काव्य में 24 गीत हैं, जो अतुकांत न होकर, सबके सब तुकांत हैं। संस्कृत में प्रायः तुकांत नहीं मिलता। यह तो अपभ्रंश या नवोदित भारतीय-आर्य भाषाओं की विशेषता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इन पदों की रचना मूलतः पुरानी बँगला में या अपभ्रंश में की गई थी और फिर उनमें थोड़ा परिवर्तन कर संस्कृत के अनुरूप बना दिया गया। इस तरह जयदेव पुरातन बंगाल के प्रसिद्ध कवि माने जा सकते हैं जिन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त संभवतः पुरानी बँगला में भी रचना की। जो हो, बंगाल के कितने ही परगामी कवियों को उनसे प्रेरणा मिली, इसमें संदेह नहीं।

मध्यकालीन बँगला साहित्य (1200 से 1800 ई. तक)

पुरानी बँगला में कोई बड़ा प्रबंध काव्य रचा गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय ऐसी रचनाएँ बंगाल में भी प्राय: अपभ्रंश में ही होती थीं। जो हो, मिथिला (बिहार) के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने जब प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य (कीर्तिलता) की रचना की (लगभग 1,410 ई.) तब उन्होंने भी इसका प्रणयन अपनी मातृभाषा मैथिली में न कर अपभ्रंश में ही किया, यद्यपि बीच-बीच में इसमें मैथिल शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 15वीं शती तथा विशेष रूप से 16वीं शती से ही बड़े प्रबंध काव्यों एवं वर्णनात्मक रचनाओं का निर्माण प्रारंभ हुआ, उदाहरणार्थ आदर्श नारी बिहुला और उसके पति लखीधर की कथा, कालकेतु और फुल्लरा का कथानक, इत्यादि।

सन् 1203 में पश्चिमी बंगाल पर तुर्कों का आक्रमण हुआ। व्यापक लूटमार, अपहरण, हत्याकांड, महलों तथा पुस्तकालयों के विनाश तथा बलात् धर्मपरिवर्तन की बाढ़ सी आ गई। ऐसा समय साहित्यिक विकास के अनुकूल हो ही कैसे सकता था। उदार रुख अपनाने वाले सूफी प्रचारकों के आगमन में अभी देर थी।

संक्रमणकालीन साहित्य (1200-1350)

इस समय की साहित्यिक रचनाओं के कोई विशिष्ट प्रामाणिक ग्रंथ नहीं बताए जा सकते। पुराने गायकों और लोकगीतकारों में बिहुला आदि की जो कथाएँ प्रचलित थीं, उन्हीं के आधार पर कुछ अज्ञात कवियों ने रचनाएँ प्रस्तुत की जिन्हें बँगला के प्रारंभिक प्रबंध काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसी अवधि में बँगला भाषी मुसलिम आबादी का उद्भव हुआ और उसमें क्रमश: वृद्धि होती गई। तुर्क आक्रमणकारियों में से बहुतों ने बंगाल की स्त्रियों से ही विवाह कर लिया और धीरे-धीरे यहाँ की भाषा, रहन सहन आदि को अपना लिया। तुर्की को वे भूल ही गए और अरबी केवल धर्म-कर्म की भाषा रह गई। बंगाल में हिंदू जमींदारों और सामंतों की ही व्यवस्था अभी प्रचलित थी, फलत: मुसलिम विचारों और पद्धतियों का जनजीवन पर अभी दृष्टिगोचर होने योग्य विशेष प्रभाव नहीं पड़ने पाया था।

प्रारंभ का मध्यकालीन साहित्य (1350 से 1607 तक)

कुछ काल के अनंतर बंगाल में शांति स्थापित होने पर जब फिर संस्कृत के अध्ययन, प्रचार आदि की सुविधा प्राप्त हुई तब शिक्षा और साहित्य का मानो

प्राथमिक पुनर्जागरण प्रारंभ हुआ। माध्यमिक बँगला के प्रथम महाकवि, जिनके संबंध में हमे कुछ जानकारी है, संभवतः कृत्तिवास ओझा थे (जन्म लगभग 1399 ई.)। संस्कृत रामायण को बँगला में प्रस्तुत करने वाले (लगभग 1418 ई.) वे पहले लोकप्रिय कवि थे जिन्होंने राम का चित्रण वाल्मीकि की तरह शुद्ध मानव और वीर पुरुष के रूप में न कर भगवान के करुणामय अवतार के रूप में किया जिसकी ओर सीधी-सादी भक्तिमय जनता का हृदय सहज भाव से आकर्षित हो सकता था। इसी तरह कृष्णागाथा का वर्णन उसी शताब्दी में (1475 ई.) मालाधर बसु ने किया। यह भागवत पुराण पर आधारित है।

बिहुला की कथा, जो विवाह की प्रथम रात्रि में ही मनसा देवी द्वारा प्रेषित सर्प के द्वारा पति के डसे जाने पर विधवा हो गई थी और जिसने बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलकर देवताओं को तथा मनसा देवी को भी प्रसन्न कर पति को पुनः जीवित करा लेने में सफलता प्राप्त की थी, पतिव्रता नारी के प्रेम और साहस की वह अपूर्व परिकल्पना है जिसका आविर्भाव कभी किसी भारतीय मस्तिष्क में हुआ हो। यह कथा शायद मुसलमानों के आगमन के पहले से ही प्रचलित थी किंतु उस पर आधारित प्रथम कथाकाव्य बँगला में 15वीं शती में रचे गए। इनमें से एक के रचयिता विजयगुप्त और दूसरी के विप्रदास पिपलाई माने जाते हैं।

पूर्व माध्यमिक बँगला के एक प्रसिद्ध कवि चंडीदास माने जाते हैं। इनके नाम से कोई 1200 पद या कविताएँ प्रचलित हैं। उनकी भाषा, शैली आदि में इतना अंतर है कि वे एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं जान पड़तीं। ऐसा प्रतीत होता है कि माध्यमिक बँगला में इस नाम के कम से कम तीन कवि हुए। पहले चंडीदास (अनंत बडु चंडीदास) श्रीकृष्णकीर्तन के प्रणेता थे जो चैतन्य के पहले, लगभग 1400 ई. में, विद्यमान थे। दूसरे चंडीदास द्विज चंडीदास थे जो चैतन्य के बाद में या उत्तर काल में हुए। इन्होंने ही राधा कृष्ण के प्रेमविषयक उन अधिकांश गीतों की रचना की जिनसे चंडीदास को इतनी लोकप्रसिद्धि प्राप्त हुई। तीसरे चंडीदास दीन चंडीदास हुए जो संग्रह के तीन चौथाई भाग के रचयिता प्रतीत होते हैं। चंडीदास की कीर्ति के मुख्य आधार प्रथम दो चंडीदास ही थे, इसमें संदेह नहीं जान पड़ता।

15वीं शताब्दी में बंगाल पर तुर्क तथा पठान सुलतानों का शासन था, पर उनमें यथेष्ट बंगालीपन आ गया था और वे बँगला साहित्य के समर्थक बन गए थे। ऐसा एक शासक हुसेनशाह था (1493-1519)। उसने चटगाँव

के अपने सूबेदारों और पुत्र नासिरुद्दीन नसरत के द्वारा महाभारत का अनुवाद बँगला में करवाया। यह रचना 'पांडवविजय' के नाम से कवींद्र द्वारा प्रस्तुत की गई थी।

इसी समय प्रसिद्ध वैष्णव कवि चैतन्य का आविर्भाव हुआ (1486–1533)। समसामयिक कवियों और विचारकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। उनके आविर्भाव और मृत्यु के उपरांत संतों तथा भक्तों के जीवनचरित्रों के निर्माण की परंपरा चल पड़ी। इनमें से कुछ ये हैं–वृंदावनदास कृत चैतन्यभागवत (लग. 1573), लोचनदास कृत चैतन्यमंगलय जयानंद का चैतन्यमंगल तथा कृष्णदास कविरत्न का चैतन्यचरितामृत (लग. 1581)। कृष्ण और राधा के दिव्य प्रेम संबंधी बहुत से गीत और पद भी इस समय रचे गए। बंगाल के इस वैष्णव गीत साहित्य पर मिथिला के विद्यापति का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

इसी समय के लगभग बँगला पर 'ब्रजबुलि' का भी प्रभाव पड़ा। मिथिला का राज्य मुसलिम आक्रमणों से प्रायः अछूता रहा। बंगाल के कितने ही शिक्षार्थी स्मृति, न्याय, दर्शन आदि का अध्ययन करने वहाँ जाया करते थे। मिथिला के संस्कृत के विद्वान् अपनी मातृभाषा में भी रचना करते थे। स्वयं विद्यापति ने संस्कृत में ग्रंथरचना की किंतु मैथिली में भी उन्होंने बहुत सुंदर प्रेमगीतों का निर्माण किया। उनके ये गीत बंगाल में बड़े लोकप्रिय हुए और उनके अनुकरण में यहाँ भी रचना होने लगी। बंकिमचंद्र तथा रवींद्रनाथ ठाकुर तक ने इस तरह के गीतों की रचना की।

वैष्णव प्रेमगीतकार के रूप में जयदेव कवि की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उनके बाद बडुचंडीदास तथा चैतन्य के अनुयायी आते हैं। इनमें उड़ीसा के एक क्षत्रप रामानंद थे जिन्होंने संस्कृत में भी रचना की। गोविंददास कविराज (1512–1) ने ब्रजबुलि में कितने ही सुंदर गीत प्रस्तुत किए। बर्दवान जिले के कविरंजन विद्यापति ने भी ब्रजवुलि में प्रेमगीत लिखे जिनके कारण वे 'छोटे विद्यापति' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 16वीं शती के दो कवियों ने कालकेतु और उसकी स्त्री फुल्लरा तथा धनपति और उसके पुत्र श्रीमंत के आख्यान की रचना की जिसमें चंडी या दुर्गादेवी की महिमा वर्णित की गई। कविकंकण मुकुंददास चक्रवर्ती ने चंडीकाव्य बनाया जो आज भी लोकप्रिय है। इसमें तत्कालीन बँगला जीवन की अच्छी झलक देख पड़ती है। पद्यलेखक होते हुए भी वे एक तरह से बंकिमचंद्र तथा शरच्चंद्र चटर्जी के पूर्वग माने जा सकते हैं।

उत्तरकालीन माध्यमिक बँगला साहित्य (1600-1800)

वैष्णव गीतकारों तथा जीवनी लेखकों की परंपरा 17वीं शती में चलती रही। जीवनीलेखकों में ईशान नागर (1564) और नित्यानंद (1600 ई.) के बाद यदुनंदनदास (कर्णानंद के लेखक, 1607), राजवल्लभ (कृति मुरलीविलास), मनोहरदास (1652, कृति 'अनुरागवल्ली') तथा घनश्याम चक्रवर्ती (कृति, भक्तिरत्नाकर तथा नरोत्तमविलास) का नाम लिया जा सकता है। गीतलेखकों की संख्या 200 से अधिक है। वैष्णव विद्वानों तथा कवियों ने इनके कई संग्रह तैयार किए थे जिनमें से वैष्णवदास (1770 ई.) का 'पदकल्पतरु' विशेष प्रसिद्ध है। इसमें 170 कवियों द्वारा रचित 3101 पद आए हैं।

इसी समय कुछ धार्मिक ढंग की कथाएँ भी लिखी गईं। इनमें रूपराम कृत धर्ममंगल विशेष प्रसिद्ध है जिसमें लाऊसैन के साहसिक कार्यों का वर्णन है। इस कथा के ढंग पर मानिक गांगुलि तथा घनराम चक्रवर्ती ने भी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। एक और कथानक जिसके आधार पर 17वीं, 18वीं शती में रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, राजा गोपीचंद का है। वे राजा मानिकचंद्र के पुत्र थे। जब वे गद्दी पर बैठे तो उनकी माता मयनामती को पता चला कि उनके पुत्र को राजपाट तथा स्त्री का परित्याग कर योगी बन जाना चाहिए, नहीं तो उनकी अकालमृत्यु की संभावना है। अत: माता के आदेश से उन्हें ऐसा ही करना पड़ा। भवानीदासकृत 'मयनामतिर गान' तथा दुर्लभ मलिक की रचना 'गोविंदचंद्र गीत' इसी कथानक पर आधारित हैं।

बिहुला की कथा पर 18वीं शती में भी प्रबंध काव्य वंशीदास, केतकादासतथा क्षेमानंद इत्यादि द्वारा-रचे गए। आल्हा के ढंग पर कुछ वीरकाव्य या गाथाकाव्य भी 17वीं शती में रचे गए। इनका एक संग्रह अंग्रेजी अनुवाद सहित दिनेशचंद्र सेन ने तैयार किया जो कलकत्ता वि. विद्यालय द्वारा प्रकाशित किया गया। इसी समय बंगाली मुसलमान लेखकों ने अरबी और फारसी की प्रेम तथा धर्म कथाएँ बंगला में प्रस्तुत करने का प्रयत्न आरंभ किया। इन कवियों ने उस समय के उपलब्ध बँगला साहित्य का ही अध्ययन नहीं किया वरन् संस्कृत, अरबी तथा फारसी के ग्रंथों का भी अनुशीलन किया। उन्होंने अवधी या कोशली से मिलती-जुलती एक और भाषा-गोहारी या गोआरी-भी सीखी। इसी तरह पूर्वी हिंदी के क्षेत्र से जो सूफी मुसलमान पूर्वी बंगाल पहुँचे, वे अपने साथ नागरी वर्णमाला भी लेते गए। सिलहट के मुसलमान कवि बहुत दिनों तक इसी सिलेट नागरी लिपि में बँगला लिखते रहे। उस समय के कुछ मुसलमान कवि ये

हैं–दौलत काजी, जिसने 'लोरचंदा' या 'सती मैना' शीर्षक प्रेमकाव्य लिखा, कुरेशी मागन ठाकुर जिसने 'चंद्रावती' की रचना की, मुहम्मद खाँ, जिसकी दो रचनाएँ (मौतुलहुसेन तथा केयामतनामा) प्रसिद्ध हैं, तथा अब्दुल नबी जिसने बड़ी सुंदर शैली में 'आमीर हामजा' का प्रणयन किया। इनके सिवा 17वीं शती के एक और प्रसिद्ध मुसलिम कवि आला ओल हैं जिनकी कृति 'पद्मावती' (1651) यथेष्ट लोकप्रिय रही। यह हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की इसी नाम की रचना का रूपांतर है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं–सैफुल मुल्क बदीउज्जमाँ (सहस्ररजनीचरित्र के आधार पर रचित प्रेमकाव्य), हफ्त पैकार, सिकंदरनामा तथा तोहफा।

17वीं शती के तीन हिंदू कवियों – काशीरामदास, जिन्होंने महाभारत का अनुवाद बँगला पद्य में किया, उनके बड़े भाई कृष्णकिंकर, जिन्होंने श्रीकृष्णविलास बनाया तथा जगन्नाथमंगल के लेखक गदाधर।

18वीं शती के कुछ प्रसिद्ध कवि ये हैं – रामप्रसाद सेन (मृत्यु 1775) जिनके दुर्गा संबंधी गीत आज भी लोकप्रिय हैं, भारतचंद्र, जिनका 'अन्नदामंगल' (या कालिकामंगल) काव्य बँगला की एक परिष्कृत रचना है, राजा जयनारायण, जिन्होंने पद्मपुराण के काशीखंड का बँगला में अनुवाद किया और उस समय के बनारस का बहुत ही मनोरंजक विवरण उसमें समाविष्ट कर दिया। इस काल में हलके फुलके गीतों तथा समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गए सद्यःप्रस्तुत पद्यों का काफी जोर रहा। कुछ मुसलमान कवियों ने मुहर्रम तथा कर्बला के संबंध में रचनाएँ प्रस्तुत कीं (मुहर्रम पर्व या जंगनामा हायत मुहम्मद, नसरुल्ला खाँ तथा याकूब अली द्वारा रचित)। लैला मजनूं पर दौलत वजीर बहराम ने लिखा और मुहम्मद साहब के जीवन पर भी ग्रंथ प्रस्तुत किए गए।

बँगला गद्य के कुछ नमूने सन् 1550 के बाद पत्रों तथा दस्तावेजों के रूप में उपलब्ध हैं। कैथलिक धर्म संबंधी कई रचनाएँ पोर्तगाली तथा अन्य पादरियों द्वारा प्रस्तुत की गईं और 1778 में नथेनियल ब्रासी हलहद ने बंगला व्याकरण तैयार कर प्रकाशित किया। 1799 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद बाइबिल के अनुवाद तथा बँगला गद्य में अन्य ग्रंथ तैयार कराने का उपक्रम किया गया।

आधुनिक बँगला साहित्य (1800 से 1950 तक)

19वीं सदी में अंग्रेजी भाषा के प्रसार और संस्कृत के नवीन अध्ययन से बँगला के लेखकों में नए जागरण और उत्साह की लहर सी दौड़ गई। एक ओर

जहाँ कंपनी सरकार के अधिकारी बँगला सीखने के इच्छुक अंग्रेज कर्मचारियों के लिए बँगला की पाठ्यपुस्तकें तैयार करा रहे थे और बेपतिस्त मिशन के पादरी कृत्तिवासीय रामायण का प्रकाशन तथा बाइबिल आदि का बँगला अनुवाद प्रस्तुत कराने का प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर बंगाली लेखक भी गद्य-ग्रंथलेखन की ओर ध्यान देने लगे थे। रामराम बसु ने राजा प्रतापादित्य की जीवनी लिखी और मृत्युजंय विद्यालंकार ने बँगला में 'पुरुष परीक्षा' लिखी। 1818 में 'समाचारदर्पण' नामक साप्ताहिक के प्रकाशन से बँगला पत्रकारिता की भी नींव पड़ी।

राजा राममोहन राय ने भारतीयों के 'आधुनिक' बनने पर बल दिया। उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उन्होंने कतिपय उपनिषदों का बँगला अनुवाद तैयार किया। अंग्रेजी में बँगला व्याकरण (1826) लिखा और अपने धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के प्रचारार्थ बँगला और अंग्रेजी, दोनों में छोटी छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। इसी समय राजा राधाकांत देव ने 'शब्दकल्पद्रुम' नामक संस्कृत कोष तैयार किया और भवानीचरण बनर्जी ने कलकतिया समाज पर व्यंग्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

प्रारंभिक गद्यलेखकों की भाषा, प्रचलित संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण, कुछ कठिन थी किंतु 1850 के लगभग अधिक सरल और प्रभावपूर्ण शैली का प्रचलन आरंभ हो गया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, प्यारीचंद मित्र आदि का इसमें विशेष हाथ था। विद्यासागर ने अंग्रेजी तथा संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद बँगला में किया और गद्य की सुंदर, सरल शैली का विकास किया। प्यारीचंद मित्र ने 'आलालेर घरेर दुलाल' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा (1858)। अक्षयकुमार दत्त ने विविध विषयों पर कई निबंध लिखे। अन्य गद्यलेखक थे - राजनारायण बसु, ताराशंकर तर्करत्न (जिन्होंने 'कादंबरी' का संक्षिप्त रूपांतर बँगला में प्रस्तुत किया) तथा तारकनाथ गांगुलि (जिन्होंने प्रथम यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास 'स्वर्णलता' प्रकाशित किया)।

माइकेल मधुसूदन दत्त को हम उस समय के 'युवक बंगाल' का प्रतिनिधि मान सकते हैं जिसके हृदय में अन्य युवकों की तरह आत्मविकास तथा आत्माभिव्यक्ति का बहुत सीमित अवकाश ही हिंदू समाज में मिलने के कारण एक प्रकार का असंतोष सा व्याप्त हो उठा था। इसका एक विशेष कारण उनका अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी साहित्य के संपर्क में आना था। ईसाई धर्म में अभिषिक्त होने के बाद मधुसूदन ने पहले अंग्रेजी में, फिर बँगला में लिखना

आरंभ किया। उन्होंने भारतीय विषयों पर ही लेखनी चलाई पर उन्हें युरोपीय ढंग पर सँवारा, सजाया। उनकी मुख्य रचनाएँ हैं – मेघनादवध काव्य, वीरांगना काव्य तथा व्रजांगना काव्य। उन्होंने बँगला में अनुप्रासहीन कविता का प्रचलन किया और इटैलियन सोनेट की तरह चतुर्दशपदियों की भी रचना की।

बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय रवींद्रनाथ ठाकुर के आगमन के पूर्व बँगला के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। उनका साहित्यिक जीवन अंग्रेजी में लिखित 'राजमोहन की स्त्री' नामक उपन्यास (1864) से आरंभ होता है। बँगला में पहला उपन्यास उन्होंने दुर्गेशनंदिनी (1865) के नाम से लिखा। इसके बाद उन्होंने एक दर्जन से अधिक सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनके कारण बँगला साहित्य में उन्हें स्थायी स्थान प्राप्त हो गया और आधुनिक भारत के विचारशील लेखकों तथा चिंतकों में उनकी गणना होने लगी। 1872 में उन्होंने 'बंगदर्शन' नामक साहित्यिक पत्र निकाला जिसने बँगला साहित्य को नया मोड़ दिया। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में राजसिंह, सीताराम, तथा चंद्रशेखर मुख्य हैं। सामाजिक उपन्यासों में 'विषवृक्ष' तथा 'कृष्णकांतेर विल का स्थान ऊँचा है। उनका 'कपालकुंडला' शुद्ध प्रेम और कल्पना का उत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। 'आनंदमठ' प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास है जिसका 'वंदेमातरम्' गीत चिरकाल तक भारत का राष्ट्रीयगान माना जाता रहा और आज भी इस रूप में इसका समादर है। उनके उपन्यासों तथा अन्य रचनाओं का भारत की प्राय: सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

एक और प्रसिद्ध व्यक्ति जिसे भारत के पुनर्जागरण में मुख्य स्थान प्राप्त हैं, स्वामी विवेकानंद हैं। भारत की गरीब जनता ('दरिद्रनारायण') की सेवा ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने अमरीका और यूरोप जाकर अपने प्रभावकारी भाषणों द्वारा हिंदू धर्म का ऐसा विशद विवेचन उपस्थित किया कि उसे पश्चिमी देशों में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। बँगला तथा अंग्रेजी, दोनों के वे प्रभावशील लेखक थे। रंगलाल बंद्योपाध्याय ने राजपूतों की वीरगाथाओं के आधार पर 'पद्मिनी' (1858), कर्मदेवी (1862) तथा सूरसुंदरी (1868) की रचना की। कालिदास के 'कुमारसंभव' का बँगला अनुवाद भी उन्होंने प्रस्तुत किया।

बँगला नाटकों का उदय 1870 के आसपास माना जा सकता हैं, यद्यपि इसके पहले भी इस दिशा में कुछ प्रयास किया जा चुका था। बंगाल में पहले एक तरह के धार्मिक नाटक प्रचलित थे जिन्हें 'यात्र' नाटक कहते थे। इनमें दृश्य और परदे नहीं होते थे, गायन और वाद्य की प्रधानता होती थी। एक रूसी

नागरिक जेरासिम लेबेडेव ने 1795 में कलकत्ता आकर बँगला की प्रथम नाट्यशाला स्थापित की, जो चली नहीं। संस्कृत नाटकों के सिवा अंग्रेजी नाटकों तथा कलकत्ते में स्थापित अंग्रेजी रंगमंच से बँगला लेखकों को प्रेरणा मिली। दीनबंधु मित्र ने कई सुखांत नाटक लिखे। उनके एक नाटक नीलदर्पण (1860) में निलहे गोरों के उत्पीड़न का मार्मिक चित्रण हुआ था, जिससे इस प्रथा की बुराइयाँ दूर करने में सहायता मिली।

राजा राजेंद्रलाल मित्र (1822-91) इतिहासलेखक और प्रथम बंगाली पुरातत्त्वज्ञ थे। भूदेव मुखोपाध्याय (1825-94) शिक्षाशास्त्री, गद्यलेखक और पत्रकार थे। समाज और संस्कृति के संरक्षण तथा पुनरुद्धार संबंधी उनके लेखों का आज भी यथेष्ट महत्व है। कालीप्रसन्न सिंह कट्टर हिंदू समाज के एक और प्रगतिशील लेखक थे। उन्होंने महाभारत का बँगला गद्य में तथा संस्कृत के दो नाटकों का भी अनुवाद किया। उन्होंने कलकत्ते की बोलचाल की बँगला में 'हुतोम पेंचार नक्शा' नामक रचना प्रस्तुत की जिसमें उस समय के कलकतिया समाज का अच्छा चित्रण किया गया था। बँगला के प्रतिष्ठित साहित्य में इसकी गणना है। हेमचंद बंदोपाध्याय (1838-1903) ने शेक्सयिर के दो नाटकों 'रोमियों और जूलियट' तथा 'टेंपेस्ट' का बँगला में अनुवाद किया। मेघनादवध से प्रोत्साहित होकर उन्होंने 'वृत्तसंहार' नामक महाकाव्य की रचना की। नवीनचंद्र सेन (1847- 1909) ने कुरुक्षेत्र, रैवतक तथा प्रभास नाटक बनाए तथा बुद्ध, ईसा और चैतन्य के जीवन पर अमिताभ, ख्रीष्ट तथा अमृताभ नामक लंबी कविताएँ लिखीं। पलासीर युद्ध तथा रंगमती और भानुमती के भी लेखक वही थे। पाँच खंडों में अपनी जीवनी 'आमार जीवन' भी उन्होंने लिखी।

रवींद्रनाथ ठाकुर के सबसे बड़े भाई द्विजेंद्रनाथ ठाकुर (1840-1926) कवि, संगीतज्ञ तथा दर्शनशास्त्री थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'स्वप्नप्रयाण' है। रवींद्रनाथ के एक और बड़े भाई ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर थे। उनके लिखे चार नाटक बड़े लोकप्रिय थे - पुरुविक्रम, सरोजिनी, आशुमती तथा स्वप्नमयी। उन्होंने फ्रेंच भाषा, अंग्रेजी तथा मराठी से भी कई ग्रंथों का अनुवाद किया।

रमेशचंद्र दत्त ने ऋग्वेद का बँगला अनुवाद किया। भारतीय अर्थशास्त्र के भी वे लेखक थे और उन्होंने कई उपन्यास भी लिखे- 1. राजपूत जीवनसंध्या, 2. महाराष्ट्र जीवनसंध्या 3. माधवी कंकण 4. संसार, तथा 5. समाज। इनके समसामयिक गिरीशचंद्र घोष बँगला के महान नाटककार थे।

उन्होंने 90 नाटक, प्रहसन आदि लिखे, जिनमें से कुछ ये हैं – बिल्वमंगल, फ्रुल्ल, पांडव गौरव, बुद्धदेवचरित, चैतन्य लीला, सिराजुद्दौला, अशोक, हारानिधि, शंकराचार्य, शास्ति की शांति। शेक्सपियर के मेकबेथ नाटक का बँगला अनुवाद भी उन्होंने किया। अमृतलाल बसु भी गिरीशचंद्र घोष की तरह अभिनेता नाटककार थे। हास्य रस से पूर्ण उनके नाटक तथा प्रहसन बँगला भाषियों में काफी लोकप्रिय हैं। वे बंगाल के मोलिएर कहलाते थे, जिस तरह गिरीशचंद्र बंगाली शेक्सपियर माने जाते थे।

हास्यरस के दो और बँगला लेखक इस समय हुए – त्रैलोक्यनाथ मुखेपाध्याय (1847–1919), उपन्यासकार तथा लघुकथा लेखक और इंद्रनाथ बंदोपाध्याय (1849–1911), निबंधलेखक तथा व्यंग्यकार।

संस्कृत और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् हरप्रसाद शास्त्री (1853–1931) का उल्लेख पहले 47 चर्यापद के सिलसिले में किया जा चुका है। वे उपन्यासकार और अच्छे निबंधलेखक भी थे। उनके दो उपन्यास हैं– 'बेणेर मेये' तथा 'कांचनमाला'। भारतीय साहित्य, धर्म तथा सभ्यता के संबंध में उनके लेख विशेष महत्वपूर्ण हैं। उनका लिखा 'वाल्मीकिर जय' नामक गद्यकाव्य बड़ी सुन्दर और प्रभावोत्पादक बँगला में लिखा गया है।

राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत 1857 के आसपास हो चुकी थी। 1885 में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से इसे बल मिला और 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा किए गए बंगाल के विभाजन ने इसमें आग फूँक दी। स्वदेशी का जोर बढ़ा और भाषा तथा साहित्य पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। सन् 1913 में रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिलने से बंगाल तथा भारत में राष्ट्रीय भावना की प्रबलता बढ़ गई और बँगला साहित्य में एक नए युग का आरंभ हुआ जिसे हम 'रवींद्रनाथ युग' की संज्ञा दे सकते हैं।

रवींद्रनाथ ठाकुर (1861–1941) में महान लेखक होने के लक्षण शुरू से ही दिखाई पड़ने लगे थे। क्या कविता और क्या नाटक, उपन्यास और लघु कथा, निबंध और आलोचना, सभी में उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने नया चमत्कार उत्पन्न कर दिया। उनके विचारों और शैली ने बँगला साहित्य को मानो नया मोड़ दे दिया। व्यापक दृष्टि और गहरी भावना से संपृक्त उत्कृष्ट सौंदर्य तथा अज्ञात की रहस्यमय अनुभूति उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर अभिव्यक्त होती देख पड़ती हैं। गीत रचनाकार के रूप में वे अद्वितीय हैं। प्रेम, प्रकृति, ईश्वर और

मानव पर लिखे गए उनके गीतों की संख्या 200 से ऊपर है। ये गीत परमात्म और आधिदैविक शक्ति की रहस्यमय भावना से ओतप्रोत हैं, इस कारण संसार के महान रहस्यवादी लेखकों में उनकी गणना की जाती है। उनके निबंध स्वस्थ चिंतन एव सुस्पष्ट विवेचन के लिए प्रसिद्ध हैं। वे बुद्धिपरक भी हैं तथा कल्पनाप्रधान भी, याथार्थिक भी हैं और काव्यमय भी। उनके उपन्यास तथा लघुकथाएँ तथ्यात्मक, नाटकीयता पूर्ण एवं अंर्तदृष्टि प्रेरक हैं। वे अंतरराष्ट्रीयता एवं मानव एकता के बराबर समर्थक रहे हैं। उन्होंने अथक रूप से इस बात का प्रयत्न किया कि भारत अपनी गौरवपूर्ण प्राचीन बातों की रक्षा करते हुए भी विश्व के अन्य देशों से एकता स्थापित करने के लिए तत्पर रहे।

रवींद्रनाथ के समसामयिक लेखकों में कितने ही विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके नाम हैं–

1. गोर्विन्दचंद्रदास, कवि,
2. देवेंद्रनाथ सेन, कवि,
3. अक्षयकुमार बड़ाल, कवि,
4. श्रीमती कामिनी राय, कवयित्री,
5. श्रीमती सुवर्णकुमारी देवी, कवयित्री,
6. अक्षयकुमार मैत्रेय, इतिहासलेखक,
7. रामेद्रसुंदर त्रिवेदी, निबंधलेखक, वैज्ञानिक एवं दर्शनशास्त्री,
8. प्रभातकुमार मुखर्जी, उपन्यासकार तथा लघुकथा लेखक,
9. द्विजेंद्रलाल राय, कवि तथा नाटककार,
10. क्षीरोदचंद्र विद्याविनोद, लगभग 50 नाटकों के प्रणेता,
11. राखालदास वंद्योपाध्याय, इतिहासकार और ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक,
12. रामानंद चटर्जी, सुप्रसिद्ध पत्रकार जिन्होंने 40 वर्ष तक माडर्न रिव्यू तथा बँगला प्रवासी का संपादन किया,
13. जलधर सेन, उपन्यास लेखक तथा पत्रकार,
14. श्रीमती निरुपमा देवी तथा
15. श्रीमती अनुरूपा देवी, सामाजिक उपन्यासों की लेखिका।

आधुनिक बँगला के सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचंद्र चटर्जी (1876–1938) माने जाते हैं। सरल और सुंदर भाषा में लिखे गए इनके कुछ उपन्यास ये हैं –

श्रीकांत, गृहदाह, पल्ली समाज, देना पावना, देवदास, चंद्रनाथ, चरित्रहीन, शेष प्रश्न आदि।

यद्यपि समस्त बँगाल प्रदेश में परिनिष्ठ बँगला का ही साहित्य में विशेष प्रयोग होता है फिर भी बहुत से ग्रंथ कलकत्ता तथा आस पास की बोलचाल की भाषा में लिखे गए हैं तथा लिखे जा रहे हैं। उपन्यासों में रंगमंच पर तथा रेडियो और सिनेमा में उसका प्रयोग बहुलता से होता है। पिछले 30-35 वर्ष में, रवींद्रयुग की प्रधानता होते हुए भी, कितने ही युवक लेखकों ने नग्न यथार्थवाद के पथ पर चलने का प्रयत्न किया, यद्यपि इसमें अब यथेष्ट शिथिलता आ गई है। इसके बाद कुछ लेखकों में समाजवाद तथा साम्यवाद (कम्यूनिज्म) की भी प्रवृत्ति देख पड़ी। इसी तरह अंग्रेजी तथा रूसी साहित्य का भी बहुत कुछ प्रभाव बँगला लेखकों पर पड़ा। किंतु वर्तमान बँगला साहित्य में कथासाहित्य की ही विशेष प्रधानता है, जिसका लक्ष्य मानव जीवन और मानव स्वभाव का सम्यग् रूप से चित्रण करना ही है। कितने ही लेखक रवींद्र तथा शरद् बाबू की परंपरा पर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ के नाम ये हैं - (कवियों में) जतींद्रमोहन बागची, करुणानिधान बंद्योपाध्याय, कुमुदरंजन मलिक, कालिदास राय, मोहितलाल मजूमदार, श्रीमती राधारानी देवी, अमिय चक्रवर्ती, प्रेगेंद्र मित्र, सुधींद्रनाथ दत्त, विमलचंद्र घोष, विष्णु दे, इत्यादि। गद्यलेखकों में इनके नाम लिए जा सकते हैं- ताराशंकर बैनर्जी, विभूतिभूषण बैनर्जी (पथेर पांचाली, आरण्यक के लेखक जिन्होंने बंगाल के ग्राम्य जीवन का चित्रण किया है), राजशेखर वसु (हास्य कथालेखक), आनंदशंकर राय, डॉ. बलाईचाँद मुखर्जी, सतीनाथ भादुड़ी, मानिक बैनर्जी, शैलजानं मुखर्जी, प्रथमनाथ वसु, नरेंद्र मित्र, गौरीशंकर भट्टाचार्य, समरेश वसु, वाजिद अली, बुद्धदेव, काजी अब्दुल वदूद, नरेंद्रदेव, डॉ. सुकुमार सेन, गोपाल हालदार, श्रीमती शांतादेवी, सीतादेवी, अवधूत, इत्यादि।

यहाँ श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर (1871-1951) का भी उल्लेख कर देना चाहिए। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें बालकों की दृष्टि से लिखीं और उनकी चित्रसज्जा स्वयं प्रस्तुत की। ये पुस्तकें कल्पनात्मक साहित्य के अन्य प्रेमियों के लिए भी अत्यंत रोचक हैं। उन्होंने कुछ छोटे-छोटे नाटक भी लिखे और कला पर कुछ गंभीर निबंध भी प्रकाशित किए। इसी तरह योगी अरविंद घोष का भी नाम यहाँ लिया जाना चाहिए जिनकी महत्वपूर्ण रचनाओं से बँगला साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता मिली।

यद्यपि विभाजन के पूर्व कुछ मुसलिम राजनीतिज्ञों की राय थी कि बँगला में मुसलिम भावनाओं से प्रेरित स्वतंत्र मुसलिम साहित्य का विकास होना चाहिए किंतु श्रेष्ठ मुसलिम लेखकों ने भाषा में इस तरह के पार्थक्य की कभी कल्पना नहीं की, भले ही कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों में हिंदुओं की अपेक्षा अधिक अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। पुराने मुसलिम कवियों में कैकोवाद अधिक प्रसिद्ध है और उपन्यास लेखकों में मशरफ हुसेन का नाम लिया जा सकता है जिनके जंगनामा की तर्ज पर लिखित 'विषाद सिंधु' के एक दर्जन से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। शिक्षित मुसलिम समाज में कितने ही लेखक उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा निबंध लिखने में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। उपन्यासकार काजी अब्दुल वदूद का नाम ऊपर लिया जा चुका है। उन्होंने रवींद्र साहित्य पर विवेचनात्मक पुस्तक लिखने के बाद गेटे पर भी एक ग्रंथ दो खंडों में प्रकाशित किया। केंद्रीय सरकार के पूर्वकालीन वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्री हुमायूँ कबीर बँगला के प्रतिभावान् कवि तथा अच्छे गद्यलेखक हैं। कुछ अन्य मुसलिम लेखकों के नाम ये हैं - (कवि) गुलाम मुस्तफा, अब्दुल कादिर, बंदे अली, फारुख अहमद, एहसान हवीब आदिय (गद्यलेखक) डॉ. मुहम्मद शहीदुल्ला, अवू सैयिद अयूव, मुताहर हुसेन चौधरी, श्रीमती शमसुन नहर, अबुल मंसूर अहमद, अबुल फजल, महबूबुल आलम। विभाजन के बाद यद्यपि पाकिस्तान सरकार ने प्रयत्न किया कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान अपनी भाषा अरबी लिपि में लिखने लगें, पर इसमें सफलता नहीं मिली। मुसलिम छात्रों तथा अन्य लोगों ने इस प्रयत्न का तथा बंगालियों पर उर्दू लादने का जोरदार विरोध किया और बंगलादेश का उदय हुआ।

आधुनिक युग के बाद

तीस के दशक में जो कविगण आये उन्होंने बांग्ला कविता के जगत में पश्चिमी प्रभाव को पनपने का अवसर दिया और रबिन्द्रनाथ के बाद की कविता को एक नयी दिशा दी। उनमें प्रधान थे बुद्धदेव बसु, सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे, जीवनानंद दास प्रमुख। चालीस के दशक में वामपंन्थी कवियों का बोलबला रहा जिसमें प्रधान थे वीरेन्द्रनाथ चट्टोपध्याय, सुभाष मुखोपाध्याय, कृष्णधर प्रमुख। पचास के दशक से पत्रिका-केन्द्रित कवियों का आविर्भाव हुया, जैसे कि शतभिषा, कृत्तिबास इत्यादि। शतभिषा के आलोक सरकार, अलोकरंजन दासगुप्ता

प्रमुखों ने नाम कमाये, जबकि कृत्तिवास के सुनील गंगोपाध्याय, शरतकुमार मुखोपाध्याय, तारापदो राय, समरेन्द्र सेनगुप्ता ने नाम कमाया। साठ के दशक में शुरु हुये आंदोलनसमूह ने कविता का चरित्र ही बदल डाला। आंदोलनों में प्रधान था भूखी पीढ़ी (हंगरी जेनरेशन) जिसके कवि-लेखकों पर बहुत सारे आरोप लगाये गये। भूखी पीढ़ी के सदस्यों ने समाज को ही बदलने का ऐलान कर डाला। उन लोगों की लेखन प्रक्रिया से बंगाली समाज भी खफा हो गया था। सदस्यों के विरुद्ध मुकदमें दायर हुये एवम आखिरकार मलय राय चौधरी को उनकी कविता के चलते कारावास का दण्ड दिया गया था।

10

असमिया साहित्य

यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति 17वीं शताब्दी से मानी जाती है किंतु साहित्यिक अभिरुचियों का प्रदर्शन 13वीं शताब्दी में कंदलि के द्रोण पर्व (महाभारत) तथा कंदलि की रामायण से प्रारंभ हुआ। वैष्णवी आंदोलन ने प्रांतीय साहित्य को बल दिया। शंकर देव (1449-1568) ने अपनी लंबी जीवन-यात्रा में इस आंदोलन को स्वरचित काव्य, नाट्य व गीतों से जीवित रखा।

असमिया के शिष्ट और लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालों में विभक्त किया जाता है–

1. वैष्णव पूर्वकाल–1200-1449 ई.
2. वैष्णवकाल–1449-1650 ई.
3. गद्य, बुरंजी काल–1650-1926 ई.
4. आधुनिक काल–1926-1947 ई.
5. स्वाधीनतोत्तर काल–1947 ई.

वैष्णव पूर्वकाल

अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर हेम सरस्वती और हरिवर विप्र असमिया के प्रारंभिक कवि माने जा सकते हैं। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र' असमिया का प्रथम लिखित ग्रंथ माना जाता है। ये दोनों कवि कमतातुर (पश्चिम कामरूप) के शासक दुर्लभनारायण के आश्रित थे। एक तीसरे प्रसिद्ध

कवि कविरत्न सरस्वती भी थे, जिन्होने 'जयद्रथवध' लिखा। परंतु वैष्णव पूर्वकाल के सबसे प्रसिद्ध कवि माधव कन्दली हुए, जिन्होंने राजा महामाणिक्य के आश्रय में रहकर अपनी रचनाएँ कीं। माधव कंदली के रामायण के अनुवाद ने विशेष ख्याति प्राप्त की। संस्कृत शब्दसमूह को असमिया में रूपातंरित करना कवि की विशेष कला थी। इस काल की अन्य फुटकर रचनाओं में कुछ गीतिकाव्य उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में तत्कालीन लोकमानस विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ। तंत्र मंत्र, मनसापूजा आदि के विधान इस वर्ग की कृतियों में अधिक चर्चित हुए हैं।

वैष्णवकाल

इस काल की पूर्ववर्ती रचनाओं में विष्णु से संबद्ध कुछ देवताओं को महत्व दिया गया था। परंतु आगे चलकर विष्णु की पूजा की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। स्थिति के इस परिवर्तन में असमिया के महान कवि और धर्मसुधारक शंकरदेव (1449–1568) ई. का योग सबसे अधिक था। शंकरदेव की अधिकांश रचनाएँ भागवतपुराण पर आधारित हैं और उनके मत को भागवती धर्म कहा जाता है। असमिया जनजीवन और संस्कृति को उसके विशिष्ट रूप में ढालने का श्रेय शंकरदेव को ही दिया जाता है। इसलिए कुछ समीक्षक उनके व्यक्तित्त्व को केवल कवि के रूप में ही सीमित नहीं करना चाहते। वे मूलतः उन्हें धार्मिक सुधारक के रूप में मानते हैं। शंकरदेव की भक्ति के प्रमुख आश्रय थे श्रीकृष्ण। उनकी लगभग 30 रचनाएँ हैं, जिनमें से 'कीर्तनघोष' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप 'अंकीया नाटक' के प्रारंभकर्ता भी शंकरदेव ही हैं। उनके नाटकों में गद्य और पद्य का बराबर मिश्रण मिलता है। इन नाटकों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। 'अंकीया नाटक' के पद्यांश को 'वरगीत' कहा जाता है, जिसकी भाषा प्रमुखतः ब्रजबुलि है।

शंकरदेव के अतिरिक्त इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण कवि उनके शिष्य माधवदेव हुए। उनका व्यक्तित्त्व बहुमुखी था। वे कवि होने के साथ-साथ संस्कृत के विद्वान, नाटककार, संगीतकार तथा धर्मप्रचारक भी थे। 'नामघोषा' इनकी विशिष्ट कृति है। शंकरदेव के नाटकों में 'चोरधरा' अधिक प्रसिद्ध रचना है। इस युग के अन्य लेखकों में अनंत कंदली, श्रीधर कंदली तथा भट्टदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असमिया गद्य को स्थिरीकृत करने में भट्टदेव का ऐतिहासिक योग माना जाता है।

बुरंजी, गद्यकाल

आहोम राजाओं के असम में स्थापित हो जाने पर उनके आश्रय में रचित साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति धार्मिक न होकर लौकिक हो गई। राजाओं का यशवर्णन इस काल के कवियों का एक प्रमुख कर्त्तव्य हो गया। वैसे भी अहोम राजाओं में इतिहासलेखन की परंपरा पहले से ही चली आती थी। कवियों की यशवर्णन की प्रवृत्ति को आश्रयदाता राजाओं ने इस ओर मोड़ दिया। पहले तो अहोम भाषा के इतिहास ग्रंथों (बुरंजियों) का अनुवाद असमिया में किया गया और फिर मौलिक रूप से बुरंजियों का सृजन होने लगा। 'बुरंजी' मूलतः एक टाइ शब्द है, जिसका अर्थ है 'अज्ञात कथाओं का भंडार'। इन बुरंजियों के माध्यम से असम प्रदेश के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। बुरंजी साहित्य के अंतर्गत कामरूप बुरंजी, कछारी बुरंजी, आहोम बुरंजी, जयंतीय बुंरजी, बेलियार बुरंजी के नाम अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं। इन बुरंजी ग्रंथों के अतिरिक्त राजवंशों की विस्तृत वंशावलियाँ भी इस काल में हुई। उपयोगी साहित्य की दृष्टि से इस युग में ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि विज्ञान संबंधी ग्रंथों का सृजन हुआ। कला तथा नृत्य विषयक पुस्तकें भी लिखी गईं। इस समस्त बहुमुखी साहित्यसृजन के मूल में राज्याश्रय द्वारा पोषित धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस काल में हिंदी के दो सूफी काव्यों (कुतुबन की 'मृगावती' तथा मंझन की 'मधुमालती') के कथानकों के आधार पर दो असमिया काव्य लिखे गए। पर मूलतः यह युग गद्य के विकास का है।

आधुनिक काल

अन्य अनेक प्रांतीय भाषाओं के साहित्य के समान असमिया में भी आधुनिक काल का प्रारंभ अंग्रेजी शासन के साथ जोड़ा जाता है। 1826 ई. असम में अंग्रेजी शासन के प्रारंभ की तिथि है। इस युग में स्वदेशी भावनाओं के दमन तथा सामाजिक विषमता ने मुख्य रूप से लेखकों को प्रेरणा दी। इधर 1838 ई. से ही विदेशी मिशनरियों ने भी अपना कार्य प्रारंभ किया और जनता में धर्मप्रचार का माध्यम असमिया को ही बनाया। फलतः असमिया भाषा के विकास में इन मिशनरियों द्वारा परिचालित व्यवस्थित ढंग के मुद्रण तथा प्रकाशन से भी एक स्तर पर सहायता मिली। अंग्रेजी शासन के युग में अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य के अध्ययन मनन से असमिया के लेखक प्रभावित हुए। कुछ पाश्चात्य आदर्श

बंगला के माध्यम से भी अपनाए गए। इस युग के प्रारंभिक लेखकों में आनंदराम टेकियाल फुकन का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। अन्य लेखकों में हेमचंद्र बरुआ, गुणाभिराम बरुआ तथा सत्यनाश बोड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं।

असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखत: तीन लेखकों द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चंद्रकुमार अग्रवाल (1858-1938), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (1858-1938) तथा हेमचंद्र गोस्वामी (1872-1928)। कलकत्ता में रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रों ने 1889 में 'जोनाकी' (जुगुनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्रिका को केंद्र बनाकर धीरे-धीरे एक साहित्यिक समुदाय उठ खड़ा हुआ जिसे बाद में जोनाकी समूह कहा गया। इस वर्ग में अधिकांश लेखक अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से प्रभावित थे। 20वीं सदी के प्रारंभ के इन लेखकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ बहुमुखी प्रतिभासंपन्न थे। उनका 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामक संकलन विशेष प्रसिद्ध है। असमिया साहित्य में उन्होंने कहानी तथा ललित निबंध के बीच के एक सहित्य रूप को अधिक प्रचलित किया। बेजबरुआ की हास्यरस की रचनाओं को काफी लोकप्रियता मिली। इसीलिए उसे 'रसराज' की उपाधि दी गई। इस युग में अन्य कवियों में कमलाकांत भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनीबाला देवी, अंबिकागिरि रायचौधुरी, फुकन आदि का कृतित्त्व महत्वपूर्ण माना जाता है। मफिजुद्दीन अहमद की कविताएँ सूफी धर्मसाधना से प्रेरित हैं।

गद्य, विशेष रूप से कथासाहित्य, के क्षेत्र में 19वीं शताब्दी के अंत में दो लेखक पद्यनाथ गोसाई बरुआ तथा रजनीकांत बारदोलाई अपने ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों के लिए महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। जोनाकी समुदाय के समानांतर जिन गद्यलेखकों ने साहित्यसृजन किया उनमें से वेणुधर राजखोवा तथा शरच्चंद्र गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शरत्चंद्र गोस्वामी की प्रतिभा वैसे तो बहुमुखी थी, पर उनकी ख्याति प्रमुखत: कहानियों को लेकर है। कहानी के क्षेत्र में लक्ष्मीधर शर्मा, बीना बरुआ, कृष्ण भुयान आदि ने प्रणय संबंधी नए अभिप्रायों के कुछ प्रयोग किए। लक्ष्मीनाथ फुकन अपनी हास्यरस की कहानियों के लिए स्मरणीय हैं। कथासाहित्य के अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में अतुलचंद्र हजारिका तथा ज्योतिप्रसाद अग्रवाल का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। समीक्षा तथा शोध की दृष्टि से अंबिकानाथ बरा, वाणीकांत काकती, कालीराम मेधी, विरंचि बरुआ तथा डिंबेश्वर नियोग का कृतित्व उल्लेखनीय है।

असमिया साहित्य के आधुनिक काल में पत्र पत्रिकाओं का माध्यम भी काफी प्रचलित हुआ। इनमें से 'अरुणोदय', 'जोनाकी', 'बोली', 'आवाहन', 'जयंती', तथा 'पछोवा' ने विभिन्न क्षेत्रों में काफी उपयोगी कार्य किया है। नए प्रकार का साहित्यसृजन प्रमुखतः 'रामधेनु' को केंद्र बनाकर हुआ है।

स्वाधीनतोत्तरकाल

इस युग में पाश्चात्य प्रभाव अधिक स्वस्थ तथा संतुलित रूप में आए हैं। इलियट तथा उनके सहयोगी अंग्रेजी कवियों से नए असमिया लेखकों को प्रमुखतः प्रेरणा मिली है। केवल कविता में ही नहीं, कथासाहित्य तथा नाटक में भी इन नए प्रयोगों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं का नए लेखकों ने उठाया है। उनके शिल्प संबंधी प्रयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

प्राचीन असम की साहित्य-रुचि-संपन्नता का पता तत्कालीन ताम्रपत्रों से चलता है। इसी प्रकार वहाँ के पुस्तकोत्पादन के संबंध में भी एक प्राचीन उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार कुमार भास्करवर्मन (ईसा की सातवीं शताब्दी) ने अपने मित्र कन्नौज सम्राट् हर्षवर्धन को सुंदर लिपि में लिखी हुई अनेक पुस्तकें भेंट की थीं। इन पुस्तकों में से एक संभवतः तत्कालीन असम में प्रचलित कहावतों तथा मुहावरों का संकलन था।

बहुत प्राचीन काल से ही असम में संगीतप्रियता की परंपरा चलती आ रही है। इसके प्रमाणस्वरूप आधुनिक असम में अलिखित और अज्ञात लेखकों द्वारा प्रस्तुत वस्तुतः अनेकानेक लोकगीत मिलते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक परंपरा से सुरक्षित रह सके हैं। ये लोगीत धार्मिक अवसरों, आचारों तथा ऋतुओं के परिवर्तनों से संबद्ध हैं। कुछ लोकगाथाओं में राजकुमार नायकों के आख्यान भी मिलते हैं। शिष्ट साहित्य के उद्‌भव के पूर्व इस काल में दार्शनिक डाक का महत्व असाधारण है। उसके कथनों को वेदवाक्य संज्ञा दी गई है। डाकवचनों की यह परंपरा बंगाल तथा बिहार तक मिलती है। असम के प्रायः प्रत्येक परिवार में कुछ समय पूर्व तक इन डाकवचनों का एक हस्तलिखित संकलन रहता था।

असम के प्राचीन नाम 'कामरूप' से प्रकट होता है कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से तंत्र मंत्र की परंपरा रही है। इन गुह्यचारों से संबद्ध अनेक प्रकार के मंत्र

मिलते हैं जिनसे भाषा तथा साहित्य विषयक प्रारंभिक अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। 'चर्यापद' के लेखक सिद्धों में से कई का कामरूप से घनिष्ट संबंध बताया जाता है, जो इस प्रदेश की तांत्रिक परंपरा को देखते हुए काफी स्वाभाविक जान पड़ता है। इस प्रकार चर्यापदों के समय से लेकर 13वीं शताब्दी के बीच का मौखिक साहित्य या तो जनप्रिय लोकगीतों और लोकगाथाओं का है या नीतिवचनों तथा मंत्रों का। यह साहित्य बहुत बाद में लिपिबद्ध हुआ।

11

मराठी साहित्य

इतिहास

मराठी साहित्य की प्रारंभिक रचनाएँ यद्यपि 12वीं शती से उपलब्ध हैं तथापि मराठी भाषा की उत्पत्ति इसके लगभग 300 सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुकी रही होगी। मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोला नामक स्थान की गोमटेश्वर प्रतिमा के नीचे वाले भाग पर लिखी हुई 'श्री चामुंड राजे करवियले, गंगराजे सुत्ताले करविलय ' पंक्ति मराठी भाषा की सर्वप्रथम ज्ञात पंक्ति है। यह संभवत: शक 905 (ई. सन् 983) में उत्कीर्ण की गई होगी। यहाँ से यादवों के काल तक के लगभग 75 शिलालेख आज तक प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा का संपूर्ण या कुछ भाग मराठी है। मराठी भाषा का निर्माण प्रमुखतया, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से होने के कारण संस्कृत की अतुलनीय भाषासंपत्ति का उत्तराधिकार भी इसे मुख्य रूप से प्राप्त हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा को आत्मसात् कर मराठी ने 12वीं शती से अपना अलग अस्तित्व स्थापित करना शुरू किया। इसकी लिपि देवनागरी है।

ऐतिहासिक अनुसंधान करने वाले अनेक विद्वानों ने यह मान लिया है कि मुकुंदराज मराठी साहित्य के आदि कवि हैं। इनका समय 1128 से 1200 तक माना जाता है। मुकुंदराज के दो ग्रंथ 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' है, जो पूर्ण आध्यात्मिक विषय पर हैं। मुकुंदराज के निवास स्थान के संबंध में विद्वानों का

एक मत नहीं है, फिर भी बीड जिले के अंबेजोगाई नामक स्थान पर बनी इनकी समाधि से वे मराठवाड़ा के निवासी प्रतीत होते हैं। वे नाथपंथीय थे। उनके साहित्य से इस पंथ के संकेत प्राप्त होते हैं।

ज्ञानदेव तथा नामदेव

मराठी भाषा के अद्वितीय साहित्यभांडार का निर्माण करने वाले ज्ञानदेव को ही मराठी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। 15 वर्ष की अवस्था में लिखी गई उनकी रचना ज्ञानेश्वरी अत्यंत प्रसिद्ध है। उनके ग्रंथ अमृतानुभव तथा चांगदेव पासष्टी, वेदांत चर्चा से ओतप्रोत हैं। ज्ञानदेव का श्रेष्ठत्व उनके अलौकिक ग्रंथनिर्माण के समान ही उनकी भक्तिपंथ की प्रेरणा में भी विद्यमान है। इस कार्य में उन्हें अपने समकालीन संत नामदेव की अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। ज्ञान और भक्ति के साकार स्वरूप इन दोनों संतों ने महाराष्ट्र के पारमार्थिक जीवन की नई परंपरा को सुदृढ़ स्थान प्राप्त करा दिया। इनके भक्तिप्रधान साहित्य तथा दिव्य जीवन के कारण महाराष्ट्र के सभी वर्गों के समाज में भगवद्भक्तों का पारमार्थिक लोकराज्य स्थापित होने का आभास मिला। चोखा मेला, गोरा कुम्हार, नरहरि सोनार इत्यादि संत इसी परंपरा के हैं।

इसी समय चक्रधर द्वारा स्थापित महानुभावीय ग्रंथकारों की एक अलग शृंखला का आरंभ हुआ। चक्रधर के पट्ट शिष्य नागदेवाचार्य ने महानुभाव पंथ को संघटित रूप देकर पंथ की नींव सुदृढ़ की। इन्हीं की प्रेरणा से महेंद्र भट, केशवराज सूरी आदि लोगों ने ग्रंथरचना की। चक्रधर जी के संस्मरण को बतलानेवाला महेंद्र भट का 'लीलाचरित्र' इस पंथ का आद्य ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित स्मृतिस्थल, केशवराज सूरी का मूर्तिप्रकाश तथा दृष्टांतपाठ, दामोदर पंडित का वत्सहरण, नरेंद्र का रुक्मिणी स्वयंवर, भास्कर भट का शिशुपालवध और उद्धवगीता आदि महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रंथ हैं। शिशुपालवध तथा रुक्मिणी स्वयंवर ग्रंथ काव्य की दृष्टि से अत्यंत सरस एवं महत्वपूर्ण हैं।

अब ज्ञानदेव और नामदेव के समय की राज्यस्थिति बदल चुकी थी। यादवों का राज्य नष्ट होकर उसके स्थान पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण निराशा की गहरी छाया छाई हुई थी। उसे दूर कर परमार्थ मार्ग को फिर से प्रकाशमान बनाने का कार्य मराठवाड़ा के अंतर्गत पैठण क्षेत्र के निवासी संत एकनाथ ने किया। इनके ग्रंथ विशद तथा साहित्यिक गुणों से संपन्न

है। इनमें वेदांत ग्रंथ, आख्यान, कविता, स्फुट प्रकरण, लोकगीत, रामायणकथा इत्यादि नाना प्रकार के साहित्य का समावेश है। एकनाथी भागवत, भावार्थ रामायण, रुक्मिणी स्वयंवर, भारुड आदि ग्रंथ मराठी में सर्वमान्य हैं। एकनाथ के ही समय में प्रचुर मात्रा में साहित्यनिर्माण करने वाले दासोपंत नामक कवि हुए। एकनाथ के पौत्र (नाती) मुक्तेश्वर के 'कलाविलास' को मराठी भाषा में उच्च स्थान प्राप्त है। इनके लिखे महाभारत के पाँचों पर्व मानो नवरसों से सुसज्जित मंदाकिनी ही हैं।

तुकाराम तथा रामदास

सन्त तुकाराम

17वीं शती में तुकाराम तथा रामदास ने एक ही समय धर्मजागृति का व्यापक कार्य किया। ज्ञानदेवादि वारकरी संप्रदाय के अधिकारियों द्वारा निर्मित धर्ममंदिर पर तुकाराम के कार्य ने मानों कलश बैठाया। पोथी पंडितों के अनुभवशून्य वक्तव्यों तथा कर्मकांड के नाम पर दिखलाए जाने वाले ढोंग का भंडाफोड़ करने में तुकाराम की वाणी को अद्‌भुत ओज प्राप्त हुआ। फिर भी जिस साधक अवस्था से उन्हें जाना पड़ा उसका उनके द्वारा किया हुआ वर्णन काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

रामदास का साहित्य परमार्थ के साथ-साथ प्रापंचिक सावधानता का तथा समाज संघटन का उपांग है। गुरु होने के कारण उनके चरित्र की उज्वलता बढ़ गई। फिर भी उनके द्वारा प्रयत्नवाद, लोकसंग्रह, दुष्टों के दलन इत्यादि के संबंध में दिए गए बोध के कारण उन्हें स्वयं ही वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। दासबोध, मनाचे श्लोक, करुणाष्टक आदि उनके ग्रंथ परमार्थ के विचार से परिपूर्ण हैं। उनके कतिपय अध्यायों के विषय राजनीतिक विचारों से प्रभावित हैं।

तुकाराम रामदास के कालखंड में वामन पंडित, रघुनाथ पंडित, सामराज, नागेश, तथा विट्ठल आदि शिवकालीन आख्यानकर्ता कवियों की एक लंबी परंपरा हो गई। शब्दचमत्कार, अर्थचमत्कार, नाद माधुर्य और वृत्तवैचित्र्य इत्यादि इन आख्यानों की विशेषताएँ हैं। वामन नामक पंडित की यथार्थदीपिका गीता टीका उनकी विद्वत्ता के कारण अर्थगंभीर व तत्त्वांगप्रचुर हो गई हैं। स्वप्न में तुकाराम का उपदेश प्राप्त कर लेने वाले महीपति प्राचीन मराठी के विख्यात संत चरित्रकार हो गए हैं। कृष्णदयार्णव का 'हरिवरदां'

तथा श्रीधर कवि के हरिविजय, रामविजय, आदि ग्रंथ सुबोध व रसपूर्ण होने के कारण आबाल वृद्धों को बहुत पंसद आए। इन परमार्थप्रवृत्त पंडितों की परंपरा में मोरोपंत का विशिष्ट स्थान है। इनके रचित आर्या भारत, 108 रामायण तथा सैकड़ों फुटकर काव्यरचनाएँ भाषाप्रभुत्व एवं सुरस वर्णनशैली के कारण विद्वन्मान्य हुई हैं।

पेशवाओं के समय में 'शाहिरी' (राजाश्रित) कवियों ने मराठी काव्य की अलग ही रूप रंग प्रदान किया। रामजोशी, प्रभाकर होनाजी बाला इत्यादि कवियों ने संत कवियों के अनुसार परमार्थ पर काव्यरचना न करते हुए समकालीन इतिहास सामग्री ग्रहण कर वीरसपूर्ण काव्य का निर्माण किया। इन कवियों द्वारा रचित 'पोवाडा' (पँवाडा, कीर्तिकाव्य) साहित्य महाराष्ट्र के इतिहास का ओजस्वी अंग है। इन्हीं राजकवियों के लावणी साहित्य में स्त्री-पुरुषों के शृंगार का भव्य वर्णन है। यद्यपि इनमें से कितनों ने ही वैराग्य पर भी 'लावणी' साहित्य का निर्माण किया है, फिर भी इनका वैशिष्ट्य पोवाड़े तथा शृंगारिक लावणियों में ही व्यक्त हुआ है।

बखर साहित्य

प्राचीन मराठी साहित्य प्रधानत: पद्यमय होने के कारण उसमें गद्य का भाग बहुत छोटा होना स्वाभाविक है। इसमें बखर साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया साधारण न होने पर भी उपेक्षणीय नहीं। कृष्णाजी शामराव की लिखी भाऊ साहेब की बखर, कृष्णाजी अनंत सभासद लिखित शिव छत्रपति की बखर, सोवनी द्वारा लिखी पेशवाओं की बखर इत्यादि बखरें प्राचीन मराठी गद्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक कालखंड के राजपुरुषों के जो हजारों पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी अनेक साहित्यिक गुणों का मनोरम दर्शन होता है।

अंग्रेजों के पूर्वकालीन साहित्य की सीमा यहाँ समाप्त होती है और एक नए युग का प्रारंभ होता है। इस समय के साहित्य की प्रेरणा प्राय: धर्मजीवन के लिये ही थी, अत: इस दीर्घ कालखंड में निर्मित साहित्य अत्यंत विशद होने पर भी अधिकांश एक ही सा है। काव्यों के विषय, आध्यात्मिक विचार, पौराणिक कथाएँ तथा ऐसी ही अन्य बातें थीं जो थोड़े से हेरफेर के साथ पुन: पुन: आई सी मालूम होती हैं। समय के हेरफेर से तथा व्यक्ति के बदलने से वर्णन की पद्धति बदली परंतु साहित्य में एक ही परमार्थ प्रवाह बराबर बहता रहा।

नए युग का आरंभ

अंग्रेजों के शासन काल से ही महाराष्ट्र के नवयुवकों में अपनी निश्चित सीमा से कुछ दूर जाने के प्रयत्न चल रहे थे। मुद्रणकला का प्रचार होने से साहित्य पढ़ने वाले वर्ग की सर्वत्र वृद्धि होने लगी, अतः उनकी संतुष्टि के लिये साहित्यिक भी नवीन साहित्य क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे। 1857 में बाबा पदमजी ने 'यमुनापर्यटन' नामक प्रथम उपन्यास लिखकर इस नवीन साहित्य प्रकार का शुभारंभ किया। इसी तरह विद्व ज–कीर्तने के 1861 में लिखे 'थोरले माधवराव पेशवे' ऐतिहासिक नाटक के कारण नाट्य साहित्य में नए युग का सूत्रपात हुआ। क्रमशः निबंध, चरित्र, व्याकरण, कोश, धर्मनीति तत्त्वज्ञान, प्रवासवर्णन, इत्यादि अनेक विभागों में साहित्यनिर्माण होने लगा। अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के ललित और शास्त्रीय ग्रंथों के मराठी अनुवाद बड़ी संख्या में होने लगे। कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, परशुराम तात्या गोडबोले, लोकहितवादी देशमुख, दादोबा पांडुरंग आदि बहुश्रुत व्यक्तियों ने अनेक विषयों पर ग्रंथरचना कर मराठी वाङ्मय को विकास के क्षेत्र में सभी ओर से नया मोड़ दिया। इस समय के विविध ज्ञानविस्तार, ज्ञानप्रकाश, ज्ञानसंग्रह, दिग्दर्शन आदि नियमित पात्रों ने भी ज्ञान का पौसरा चलाकर मानों नई पीढ़ियों की साहित्यिक पिपासा शांत करने में हाथ बँटाया।

1874 में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर द्वारा शुरू की गई निबंधमाला के कारण मराठी साहित्य में ही नहीं अपितु महाराष्ट्र की विचारपरंपरा में भी क्रांति होकर नए युग की प्रतिष्ठापना हुई। नव सुशिक्षित वर्ग में अपना देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति आदि के संबंध में स्वाभिमान जाग्रत हुआ। अंग्रेजी साहित्य के वैशिष्ट्य को आत्मसात् करते हुए वह ऐसे साहित्य के लिये प्रवृत्त हुआ जिससे भारतीय संस्कृति के भविष्य का पोषण होता।

आधुनिक काल 1874–1929

1855 में लिखे तृतीय रत्न नाटक जिसे महात्मा फूले ने लिखा था। उसकी चर्चा न के बराबर होती है। आपटे ने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा भूतकालीन घटनाओं को बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रित किया तथा सामाजिक उपन्यासों द्वारा स्त्रियों के दुःखी जीवन का हृदयद्रावक चित्र भी खींचा। श्री अण्णा साहेब किर्लोस्कर ने 1880 में शाकुंतल नाटक लिखकर आधुनिक मराठी रंगभूमि की नींव डाली। इन्हीं की परंपरा में गो.द.देवल ने सबसे पहले प्रभावोत्पादक नाटक

लिखकर नाट्य साहित्य को नई दिशा प्रदान की। 1885 से केशवसुत नामक कवि ने काव्यक्षेत्र में नए युग की स्थापना की। ऐतिहासिक सुख में विश्वास, अकृत्रिम प्रेम तथा आत्मनिष्ठा इत्यादि गुण इन कविताओं का वैशिष्ट्य रहा। इनके बाद तिलक, गोविदाग्रज, बालकवि चंद्रशेखर, तांबे इत्यादि कवियों ने मराठी कविताओं का सौंदर्य की सामर्थ्य और अधिक बढ़ाया। सावरकर तथा गोविंद ने राष्ट्रीय भावनाओं का उद्दीपन करनेवाली कविताएँ लिखीं। इतिहासाचार्य राजवाडे ने मराठी इतिहास के संशोधन की परंपरा का निर्माण किया। खरेशास्त्री, साने, पारनीस आदि इतिहासज्ञों ने इतिहासलेखन के साधनों की महत्वपूर्ण खोज करने का प्रयत्न किया। लोकमान्य बाल गंगा जी तिलक की ओजस्वी विचारधारा के आधार पर खाडिलकर ने उत्कृष्ट पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया। इसी समय रामगणेश गडकरी ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से करुण एवं हास्य रस का उत्तम चित्रण किया। श्रीकृष्ण कोल्हाटकर ने अपने हास्यपूर्ण लेखों द्वारा सामाजिक आचार-विचार में दिखलाई पड़ने वाली त्रुटियों को सर्वमान्य जनता के सामने ला रखा। महात्मा फूले, लोकमान्य तिलक, आगरकर, परांजपे, नरसिंह, चिंतामणि केलकर आदि प्रसिद्ध लेखक इसी समय देश में विचारजाग्रति का महान कार्य कर रहे थे। लोकरंजन की अपेक्षा विविध विषयों के ज्ञानभंडार की पूर्ति को अधिक महत्वपूर्ण मानक साहित्य निर्माण का कार्य किया गया।

1920-1945

इसके बाद की कालावधि में लोकरंजन को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। प्रमुख आशय के साथ साथ उद्देश्य की अभिव्यक्ति का भी विचार होने लगा। फिर भी यह नहीं भुलाया गया कि साहित्य ही समाज के मन पर विशिष्ट संस्कार डालने वाला प्रभावी साधन है। डा केतकर, वा.म. जोशी, वि.स. खांडेकर ने कलाप्रदर्शन की अपेक्षा ध्येयवादी जीवनदर्शन को ही अपने उपन्यासों में महत्व का स्थान दिया। श्री मांडखोलकर ने समकालीन राजकीय घटनाओं के आधार पर अनेक उपन्यासों का सृजन किया। श्री विभावरी शिरुकर जी ने अपने कथासाहित्य में संपन्न समाज की महिलाओं के मन की सूक्ष्म विचारतरंगों को बड़ी सफलता से चित्रित किया।

ना. सी. फड़के ने अनेक प्रणयकथाएँ सुदंर शैली में लिखीं जो यथेष्ट लोकप्रिय हुई। रविकिरण मंडल के कवियों ने, विशेषत: माध्व ज्यूलियन और

यशवंत ने वैयक्तिक दु:खों का वर्णन करने वाले काव्यों की रचना की। इसके बाद के कालखंड में अनिल, बोरकर, कुसुमाग्रज, आदि कवि सामने आए। प्रह्लाद केशव अत्रे ने हास्य एवं समस्याप्रधान नाटकों का निर्माण किया। वरेरकर ने समय समय पर दृष्टिगोचर होने वाली समस्याओं को प्रधानता देने वाले नाटकों का सृजन कर बहुत बड़ा कार्य किया। इसी समय व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर लिखे गए निबंध भी लघुकथाओं के रूप में सामने आए। श्री माटे द्वारा लिखित कथाओं में अस्पृश्य समाज के सुख दु:खों की करुण कहानी देखने को मिली। ठीक इसी समय य. गो. जोशी द्वारा मध्यम वर्गीय समाज के सुख दु:खों को कथाओं का रूप देकर जनता के सम्मुख रखा गया। वि. दा. सावरकर, म. माटे, के. क्षीरसागर, पु. ग. सहस्रबुद्धे, दत्तोवमान पोतदार, आदि विद्वानों ने बहुमूल्य निबंधो द्वारा साहित्यभंडार की अभिवृद्धि की।

1945-1965

इस कालखंड का आरंभ ही दूसरे महायुद्ध के समय निर्मित साहित्य के आधार पर हुआ। इस काल के वाङ्मय से इसके पूर्व के काव्य और कथाओं के प्रमुख आशय को एवं आविष्कारादि संकेतों को जबरदस्त धक्का लगा जिसके फलस्वरूप साहित्य का मूल्य ध्वस्त होता सा प्रतीत होने लगा। मानव जीवन की असफलता, तुच्छता, घृण्यता तथा परस्पर के अकल्पनीय संबंधों का असुंदर जी की कविताओं ने रसिकों की काव्यदृष्टि में ही परिवर्तन कर दिया। गाडगील, भावे, गोखले आदि मनीषियों द्वारा लिखित साहित्य में मनोमय व्यापार, उग्र वासना का प्रक्षोभ, एवं गूढ़ विचारतरंग इत्यादि की जो विशिष्टता अभिव्यंजित की गई, उसके कारण वाङ्मय का स्वरूप ही बदल गया। वि. दा. करंदीकर तथा मुक्तिबोध काव्यों में मानववाद की अभिव्यक्ति हुई। ग्रामीण जीवन का यथार्थ दर्शन व्यंकटेश माडगुलकर ने कराया, तो दूसरी ओर माधव शास्त्री जोशी ने मध्यवर्गीय जीवन का वास्तविक चित्र जनता के सम्मुख रखा। संपन्न वर्ग के स्त्री-पुरुषों के सुख एवं दु:खों का दिग्दर्शन रांगणेकर, कालेलकर, बाल कोल्हाटकर इत्यादि द्वारा लिखे नाटकों में दिखाई पड़ता है, जो विद्याधर गोखले द्वारा लिखित नाटक में प्राचीन संगीत नाट्यकला पुनरुज्जीवित हो उठी है। पेंडसे, दांडेकर, माडगूलकर आदि के उपन्यासों में प्रादेशिक हलचल के साथ सूक्ष्म भावना दर्शन को भी महत्व दिया गया है। श्री रणजीत देसाई एवं इनामदार ने ऐतिहासिक उपन्यासों का पुनरुद्धार किया। इसी प्रकार तेंदुलकर, साठे, खानोलकर

इत्यादि ने नए ढंग के नाटकों का प्रणयन किया। कानेरकर जी द्वारा लिखित प्रयोगी नाटक इसी कालखंड में लिखे गए। मर्ढेकर, वा. ल. कुलकर्णी, श्री के. क्षीरसागर, रा. शं. वालिंबे, दि. के. बेडेकर आदि विद्वानों ने साहित्य के मूल सिद्धांतों की चर्चा करने वाले अत्यंत मूल्यवान् एवं आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किए। नेने, मिराशी, कोलते, तुलपुल इत्यादि विद्वानों का संशोधनात्मक वाङ्मय भी इसी समय निर्मित हुआ। पु. ल. देशपांडे के ठोस विनोदी साहित्य ने रसिकों के मन में अचल स्थान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार सन् 1874 से निर्मित आधुनिक मराठी वाङ्मय रूपधारी सरस्वती की धारा काव्य, कथा, नाटक, उपन्यास, चरित्र, एवं इतिहास संशोधनादि प्रवाहों से दिन प्रतिदिन समृद्ध हो रही है।

1990 के आगे

इस कालखंड का आरंभ 1990 से पहले 'शब्दवेध' (संपादक दा. गो. काले) से हुआ। श्रीधर तिलवे (1992) कि 'एका भारतीय विद्यार्थ्याचे उद्गार' और सलील वाघ (1996) कि 'निवडक कविता' इन किताबो में नये आयाम और भूमंडलीकरण तथा आधुनिकोत्तर संवेदना पायी जाती है। तत्पश्चात 'अभिधा' और 'अभिधानंतर' (संपादक – हेमंत दिवटे), 'सौष्ठव' (संपादक – श्रीधर तिल्वे, राहुल सरवटे) 'नवाक्षर दर्शन' (संपादक – प्रवीण बांदेकर), 'खेल' (संपादक – मंगेश काले), 'ऐवजी' (संपादक – रमेश इंगले उत्रदकर) आधी लघुपत्रिकाओंका काफी योगदान रहा। कविता मे श्रीधर तिलवे, संजीव खांडेकर, सलील वाघ, वर्जेश सोलंकी, मान्या जोशी, नितीन कुलकर्णी, मंगेश नारायणराव काले, हेमंत दिवटे, सचिन केतकर आदी कवियोने भूमडलीकरन तथा पोस्टमॉडर्न संवेदानाओं के अपने दायरे में लाया। कादंबरीमे रमेश इंगले, जी. के. ऐनापुरे, प्रवीण बांदेकर, मेघना पेठे ने कादंबरीके नये परिमाण खोजे।

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित मराठी साहित्यकार

विष्णु सखाराम खांडेकर
विष्णु वामन शिरवाडकर (कवि .कुसुमाग्रज)
विंदा करंदीकर
भालचन्द्र नेमाडे

मराठी में साहित्य अकादमी पुरस्कार

मराठी साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए हर साल मराठी साहित्यकारों को साहित्य अकादमी की ओर से साहित्य अकादमी पुरस्कार दिए जाते हैं। पुरस्कार विजेता साहित्यकार और उनके किताबों की सूची इस प्रकार है-

1955–तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी–'वैदिक संस्कृतिचा विकास'
1956–बा. सी. मर्ढेकर–'सौंदर्य आणि साहित्य'
1957–कोई पुरस्कार नहीं
1958–चिंतामणराव कोल्हटकर–'बहूरूपी'
1959–ग. त्रं. देशपांडे–'भारतीय साहित्यशास्त्र'
1960–विष्णु सखाराम खांडेकर–'ययाति'
1961–डी.एन. गोखले–'डॉ. केतकर'
1962–पी.वाय. देशपांडे–'अनामिकेची चिंतनिका'
1963–श्री. ना. पेंडसे–'रथचक्र'
1964–रणजित देसाई–'स्वामी'
1965–पु. ल. देशपांडे–'व्यक्ति आणि वल्ली'
1966–टी. एस. शेजवळकर–'श्री शिव छत्रपति'
1967–ना. गो. कालेलकर–'भाषा: इतिहास आणि भूगोल'
1968–इरावती कर्वे–'युगांत'
1969–एस.एन. बनहट्टी–'नाट्याचार्य देवल'
1970–एन.आर. पाठक–'आदर्श भारत सेवक'
1971–दुर्गा भागवत–'पैस'
1972–गोदावरी परूलेकर–'जेंव्हा माणुस जागा होतो'
1973–जी.ए. कुलकर्णी–'काजलमाया'
1974–विष्णु वामन शिरवाडकर–'नटसम्राट'
1975–रा. भा. पाटणकर–'सौंदर्य मिमांसा'
1976–गो. नि. दांडेकर–'स्मरणगाथा'
1977–आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिलश–'दशपदी'
1978–चिं. त्यं. खानोलकर 'आरती प्रभुश–'नक्षत्रंचे देणे'
1979–शरदचंद्र मुक्तिबोध–'सृष्टि, सौंदर्य आणि साहित्यमुल्य'
1980–मंगेश पाडगांवकर–'सलाम'
1981–लक्ष्मण माने–'उपरा'

1982–प्रभाकर पाध्ये–'सौंदर्यानुभव'
1983–व्यंकटेश माडगुलकर–'सत्तांतर'
1984–इंदिरा संत–'गर्भरेशीम'
1985–विश्राम बेडेकर–'एक झाड आणि दोन पक्षी'
1986–एन.जी. देशपांडे–'खूण गाठी'
1987–रा. चिं. ढेरे–'श्री विठ्ठल: एक महासमन्वय'
1988–लक्ष्मण गायकवाड–'उचल्या'
1989–प्रभाकर उर्ध्वरेशे–'हरवलेले दिवस'
1990–आनंद यादव–'झोंबी'
1991–भालचंद्र नेमाडे–'टीका स्वयंवर'
1992–विश्वास पाटिल–'झाडा झडती'
1993–विजया राजाध्यक्ष–'मर्ढेकरांची कविता'
1994–दिलीप चित्रे–'एकूण कविता–1'
1995–नामदेव कांबळे–'राघव वेल'
1996–गंगाधर गाडगीळ–'एका मुंगीचे महाभारत'
1997–म. वा. धोंड–'ज्ञानेश्वरीतील लौकिक सृष्टि'
1998–सदानंद मोरे–'तुकाराम दर्शन'
1999–रंगनाथ पाठारे–'ताम्रपट'
2000–एन.डी. मनोहर–'पानझड'
2001–राजन गावस–'टणकट'
2002–महेश एलकुंचवार–'युगांत'
2003–त्र्यं. वि. सरदेशमुख–'डांगोरा एका नगरीचा'

12

तेलुगु साहित्य

तेलुगु का साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं प्राचीन है। इसमें काव्य, उपन्यास, नाटक, लघुकथाएँ तथा पुराण आते हैं। तेलुगु साहित्य की परम्परा 11वीं शताब्दी के आरम्भिक काल से शुरू होती है जब महाभारत का संस्कृत से नन्नय्य द्वारा तेलुगु में अनुवाद किया गया। विजयनगर साम्राज्य के समय यह पल्लवित-पुष्पित हुई।

काल विभाजन

आजकल तेलुगु साहित्य का विभाजन निम्नलिखित चार कालों में किया जाता है-

1. पुराणकाल,
2. काव्यकाल,
3. ह्रासकाल, और
4. आधुनिककाल

कुछ लोग तेलुगु साहित्य का विभाजन निम्नलिखित वर्गों में भी करते हैं-

प्रांनन्नय युग–सन् 1000 तक

नन्नय युग–1000 - 1100 ई. तक

शिवकवि युग : 1100 - 1225ई. तक

तिक्कन युग : 1225 - 1320 ई. तक

घरन युग : 1320 – 1400 ई. तक
श्रीनाध युग : 1400 – 1500 ई. तक
रायल युग : 1500 – 1600 ई. तक
दक्षिणांध्र युग या नायकराजुल युग : 1600 – 1775 ई. तक
क्षीण युग : 1775 – 1875 ई. तक
आधुनिक युग : 1875 से अब तक
पुराणकाल (1001 से 1400 ई. तक)

किसी भी भाषा के साहित्य का आरंभ लिपि के पूर्व ही गीतों के रूप में होता है। गीत, साहित्य की तरह स्थायी नहीं होते। ईसा से 800 वर्ष पूर्व तेलुगु लिपि का प्रादुर्भाव माना गया है। लेकिन उस काल का साहित्य लिपिबद्ध नहीं है। उसके पश्चात् शिलालेखों में कुछ तेलुगु साहित्य पाया जाता है। उसके पूर्व गीतसाहित्य के प्रचलन होने का अनुमान किया जा सकता है। तेलुगु का लिपिबद्ध साहित्य ई. सन् 11वीं शताब्दी के आरंभ से पाया जाता है।

तेलुगु के आदिकवि नन्नय भट्ट ने संस्कृत महाभारत का अनुवाद तेलुगु पद्य में किया। यह अनुवाद होते हुए भी स्वतंत्र कृति के रूप में दिखाई देता है। शैली संस्कृतशब्दबहुला तथा कोमल है। इन्होंने 'आंध्रशब्द चिंतामणि' के नाम से एक तेलुगु व्याकरण ग्रंथ की रचना संस्कृत शब्दों में की। यह एक अनोखी घटना है कि तेलुगु के आदिकवि ही इस भाषा के प्रथम वैयाकरण सिद्ध हुए। व्याकरण के रचयिता होने के कारण वे 'वागनुशासन' के नाम से प्रख्यात हुए। उनके केवल आदि एवं सभापर्व पूर्ण और अरण्यपर्व के कुछ भाग मिलते हैं। तेलुगु देश में यह प्रतीत है कि नन्नय की रचना के पढ़े बिना सरल और मधुर कवि बनना कठिन है। महाभारत की रचना में उन्हें पंडित नारायण भट्ट का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। नन्नय भट्ट 11वीं शताब्दी के चालुक्यवंशीय राजा 'राजराजनरेंद्र राजमहेंद्रवरम्' के कुलगुरु थे। तिक्कन सोमयाजी तथा एर्राप्रेगड्डा नामक दोनों कवियों से महाभारत की रचना पूर्ण हुई।

नन्ने चोड – ये राजा टेकनादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये कन्नड़ आदि भाषाओं के भी विद्वान् थे। इनकी अनूदित कृति 'कुमार-संभव' है। यह अनुवाद कालिदास कृत कुमारसंभव का नहीं किंतु उद्भट भट्ट के कुमारसंभव का है।

अथर्वणाचार्य – इनका अथर्वण 'कारिकावली' के नाम से एक व्याकरण और अथर्वण छंद के नाम से एक छंदोग्रंथ प्रचलित है। इन्होंने महाभारत का

अनुवाद भी संस्कृतमय शैली में किया। जैनधर्मावलंबी होने के कारण इनका महाभारत अनादृत हुआ।

पालकुर्रकि सोमनाथ – ये वरंगल के निवासी शैवधर्म के अनुयायी थे। इनके 'पंडिताराध्यचरितमु' और 'बसवपुराणमु' प्रसिद्ध हैं। इन्होंने शैवधर्म प्रचारार्थ 'द्विपद' नाम के देशी छंद का अनुसरण किया। अन्यवाद कोलाहलम् और सोमनाथ भाष्यम् आदि इनके ग्रंथ संस्कृत में भी प्राप्त हैं। तेलुगु कवियों में सोमनाथ का स्थान बहुत बड़ा माना जाता है।

भद्रभूपति – इस राजा की कृतियाँ 'नीतिसारमुक्तावली' और 'सुमतिशतकमु' हैं। इनका यह दूसरा ग्रंथ अत्यंत लोकप्रिय है।

भास्कर रामायण– यह लोकप्रिय ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अधिकांश का अनुवाद भास्कर कवि ने किया।

तिक्कन सोमयाजी –ये तेलुगु साहित्य की महान विभूति हैं। ये 'कविब्रह्म' के नाम से प्रख्यात हैं। हर और हरि दोनों देवताओं में कोई भेद यह नहीं मानते थे। नन्नय के दो शताब्दी पश्चात् इनका जन्म हुआ। इन्होंने महाभारत के विराटपर्व से लेकर उसके अंत तक 15 वर्षों का अनुवाद करके हरिहर भगवान के चरणों में अर्पित किया। ये कवि ही नहीं, कविनिर्माता भी थे।

रंगनाथ रामायण कृ इसके प्रणेता रंगनाथ या गोनबुद्धारेड्डी थे। यह द्विपदा छंद में लिखी गई। इसमें लोकोक्तियाँ प्रचुर मात्र में हैं।

एर्राप्रेगड्डा –ये कवि शंभुदास के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने महाभारत के अरण्यपर्व के अवशिष्ट भाग का अनुवाद किया। इसलिये महाभारत के तीनों रचयिता 'कवित्रयमु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। एर्राप्रेगड्डा की अन्य कृतियाँ तेलुगु में नृसिंहपुराणमु और 'हरिवंश' आदि हैं।

नाचन सोमन्न –इनकी रचना 'उत्तरहरिवंश' है। यह महत्वपूर्ण काव्य माना जाता है।

केतन्न – ये तिक्कन के शिष्य थे। इन्होंने दंडी कृत 'दशकुमार चरित' का पद्यात्मक अनुवाद किया है तथा 'विज्ञानेश्वर' नामक धर्मशास्त्रग्रंथ और 'भाषाभूषणमु' नाम के रीतिग्रंथों की रचना की। इस प्रकार ये कवि के साथ-साथ आचार्य भी थे।

नन्नयभट्ट ने वैदिक धर्म का अवलंबन करके महाभारत का अनुवाद किया। नन्नय की रचना ने बौद्ध, जैन धर्मों पर प्रबल आघात किया। पालकुरिकि सोमनाथ कवि ने शैवधर्म का आश्रय लेकर देशी साहित्य का प्रणयन किया।

नन्नेचोड कवि ने देशी और मार्ग कविता की परंपरा चलाई। सोमनाथ के द्वारा शतक साहित्य का श्रीगणेश हुआ। सन् 1200 से 1380 ई. तक काकतीय वंश के राजा गणपति और प्रतापरुद्र ने तेलुगु साहित्य की बड़ी सेवा की। इस काल में पुराणों का अनुवाद भी किया गया। काकतीय राजाओं ने तेलुगु साहित्य के उन्नयन के साथ साथ संस्कृत के महान ग्रंथों की रचना को भी प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप 'प्रतापरुद्रीयमु' नाम के अलंकारशास्त्र ग्रंथ के अलावा अन्य महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथों का भी निर्माण इन राजाओं के दरबार में हुआ।

काव्यकाल (1400 से 1700)

महाकवि श्रीनाथ – इन्होंने नैषधीयचरित का पद्यानुवाद 'शृंगार नैषधम' नाम से किया। इनकी अन्य कृतियाँ 'मरुतराटचरित', 'शालिवाहन सप्तशती', 'भीमखंड,' 'हरविलास' आदि हैं। द्विपदा छंद में 'पलनाटि वीर चरित्रमु' और कई चाटूक्तियाँ तथा अन्यान्य मौलिक रचनाएँ भी इन्होंने की हैं। इनके मुकाबिले का शायद ही कोई विद्वान् कवि तेलुगु में मिलता हो। इस युग के प्रसिद्ध कवियों में अन्नयामात्य कवि भी एक हैं। ताल्लपाक अन्नमाचार्य ने भगवान तिरुपति बालाजी की स्तुति में, 16 वर्ष की अवस्था में हजारों पद रचकर स्वयं ताम्रपत्रों में लिखे हैं। इसका प्रकाशन तिरुपति देवस्थानम् की ओर से किया गया है।

पिल्लल मर्रिपिन वीरन्न – इनका रचनाकाल 1400 से 1500 ई.तक माना जाता है। इनकी कृतियों में 'अवतारदर्पणमु', 'नाटकीय पुराणमु', 'माघ महात्यमु', 'भानसोल्लासमु', 'शकुन्तला परिणयमु' और 'जैमिनि भारतमु' आदि उल्लेखनीय हैं।

दूषगुंट नारायणकवि – इन्होंने पंचतंत्र का पद्यानुवाद किया।

भक्त वेमन्न कवि – सन् 1412 से 1480 तक के काल के भक्तकवि वेमन्नयोगी ने एक सुंदर शास्त्र की रचना की। आंध्र प्रदेश में कोई ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जिसकी जिह्वा पर वेमन्न का कोई न कोई छंद या पद न हो। वेमन्न के ही समान भक्त कवि सन् 1480 के आसपास वरंगल जिला (आंध्र प्रदेश) के बंमेर पोतन्न थे। इन्होंने महाभागवतपुराण का अनुवाद अत्यंत सुचारु रूप से प्रसादगुण युक्त शैली में किया। इनकी अन्य कृतियों में 'वीरभद्रविजयमु', 'योगिनी दंडकमु' आदि प्रमुख हैं। ये राजाश्रय को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन्होंने अपनी महाभागवत की रचना को श्री रामचंद्र जी के चरणों पर समर्पित किया। यह तेलुगु साहित्य का अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। पोतंनकादि, सूरदास के समान भक्त कवि थे। इस युग में

श्रीनाथ आदि कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद ही नहीं किया बल्कि मौलिक ग्रंथों की रचना भी की। कुछ कवियों ने संस्कृत नाटकों का काव्यानुवाद किया। ये तेलुगु के भक्त कवियों की अग्रश्रेणी में हैं।

श्री कृष्णदेवरायलु युग – कृष्णरायलु का राज्यकाल सन् 1509 से 1530 तक था। यह युग आंध्र साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। ये कन्नड, तेलुगु तथा संस्कृत भाषाओं के प्रकांड विद्वान् एवं कवि थे। देश की रक्षा के साथ साथ इन्होंने साहित्य के क्षेत्र को एक नई विकास दिशा दी। इनकी रचनाएँ 'मदालसा चरित्रम्', 'सत्यावधुप्रीणनम्', 'सकलकथासारसंग्रहम्', 'ज्ञानचिंतामणि' और 'रसमंजरि' आदि हैं। तेलुगु में इनके 'आमुक्तमाल्यदा' की टक्कर का कोई भी काव्य शायद ही मिलता हो। इनका संस्कृत नाटक 'जांबवंती परिणयमु' अब भी उपलब्ध है। इनके दरबारी कवि 'अष्टदिग्गज' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन अष्टदिग्गजों में प्रथम प्रतिभावान् कवि अल्लासानि पेद्दन को 'कवितापितामह' की उपाधि से विभूषित किया। इनकी 'मनुचरित' रचना अत्यंत लोकप्रिय है। इनकी कविता से प्रभावित होकर कृष्णदेवराय ने कवि के दक्षिणपाद में स्वर्णघंटिका पहनाई। मादयूयागारि-मल्लन कवि राजशेखरचरित् के रचयिता थे। नंदतिम्मन ने 'पारिजातापहरणमु' की तथा धूर्जटि कवि ने 'कालहस्ति माहात्यमु' की रचना की। कालहस्ति दक्षिण में आंध्र प्रदेश का पवित्र स्थान है। नृसिंह कवि ने 'कविकर्ण रसायनमु' नामक रचना में यह दावा किया कि उनके काव्य की शृंगारी कविता को पढ़ने से विरागी भी रसिक बनते हैं और वैराग्य का वर्णन पढ़ने से रसिक भी विरागी बन जाते हैं। ताल्लपाक चिन्नयामात्य कवि का अन्नमाचार्यचरित् ऐतिहासिक काव्य है जिसने समसामयिक काव्यों में विशेष स्थान प्राप्त किया। अय्यलराय कवि ने 'सकलकथा सार संग्रहम्' कृष्णदेवरायलु के ग्रंथ का तेलुगु में अनुवाद किया।

पिंगलि सूरन्न – इनके ग्रंथ 'राघवपांडवीयमु', 'कलापूर्णोदियमु', 'प्रभावती प्रद्युम्नमु' हैं। प्रथम द्वयर्थी काव्य है तो द्वितीय अनुपम कल्पित कथानक। तृतीय की कथा पुराणप्रसिद्ध है।

पोन्नगंटि तेलगनार्य – इन्होंने 'ययातिचरितमु' नामक एक काव्य ठेठ तेलुगु भाषा में लिखा।

तेनालि रामलिंग कवि – इनकी रचना 'पांडुरंग माहात्यमु' है। यह जटिल काव्य है। ये तेलुगु के कवियों में हास्यरस के कवि माने जाते हैं। इनकी कई हास्यकथाएँ आंध्र प्रदेश में परंपरा से प्रचलित हैं।

रामाराजभूषण कवि– इनका काल 1550 से 1590 ई. तक है। उस समय तेलुगु कवियों में उनके मुकाबिले का कोई कवि नहीं था। उनके ग्रंथ 'वसुचरित्रमु' 'नरसमूपालीयमु' और 'हरिश्चंद्रनलोपाख्यानमु' आदि हैं। नरसमूपालीयमु नीतिग्रंथ है। 'वसुचरित्रमु' इनका सर्वोत्तम काव्य है। प्रबंधकला का चरम विकास इस ग्रंथ में हुआ। इस काव्य के प्रत्येक शब्द में संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई देती है। उपर्युक्त विशेष साहित्यिक गुणों के कारण इस कव्य का अनुवाद तमिल तथा संस्कृत भाषाओं में भी हुआ है। इनका पांडित्य 'हरिश्चंद्र-नलोपाख्यानमु' नामक द्वयर्थी काव्यरचना से प्रमाणित होता है।

कुम्मरि मोल्ल – ये तेलुगु भाषा की प्रथम कवयित्री हैं। ये कुम्हार जाति की स्त्री थीं। इनकी रामायण प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। इनके पूर्व तिरुमलूक्कं नाम की कवयित्री भी प्रसिद्ध थीं।

शंकर कवि ने हरिश्चंद्रोपाख्यान की तथा तरिगोंडधर्मन्न कवि ने चित्रभारतमु नामक अलंकारप्रधान काव्यग्रंथ की रचना की। तेलुगु साहित्य में अवधानकविता नाम की एक अनोखी कविता प्रचलित है। आजकल तेलुगु कविता क्षेत्र में 'सहस्रावधान', 'शतावधान' और 'अष्टावधान' भी प्रचलित हैं। इस कविता में सुप्रख्यात तिरुपति और वेंकट कवि विशेषकर उल्लेखनीय है। वेंकटशास्त्री आंध्रप्रदेश के सर्वप्रथम राजकवि बनाए गए। 19वीं शतब्दी के आदिकाल में इस कविता की नींव तरिगोंडधर्मन्न ने डाली।

एलकूचि बालसरस्वती– इन्होंने 'सारंगधर चरित्रमु' 'विजयविलासमु' नामक ग्रंथों की रचना की। श्री कृष्णदेवरायलु के राज्यकाल में काव्यकला का चरम विकास हुआ। इस युग में कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद करना छोड़कर स्वतंत्र मौलिक काव्यों की रचना ख्यात वृत्तों और कल्पित वृत्तों में की।

ह्रासकाल (1650 - 1900 ई. तक)

इस युगविशेष में आंध्र प्रदेश के छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होने के कारण काव्यकला के भाग्य में राजाओं के आश्रय में रहकर विकसित होने की सुविधा न थी। इसी बीच अंग्रेजों का भी भारतागमन हुआ।

शेषमुवेंकटपति – ने 'तारशशांक विजयमु' नामक नाटक की रचना की।

कूचिमचितिम्मकवि ने ठेठ तेलुगु में 'अच्च तेलुगु रामायणमु', 'नीला सुंदरीपरिणयमु' की रचना की। 'रसिकजनमनोभिराममु', 'राजशेखर विलासमु',

'सर्वलक्षणसार संग्रहमु' इनकी अन्य रचनाएँ हैं। 'शिवलीला विलासमु' आदि भक्तिप्रधान कृतियाँ भी इन्होंने लिखीं।

एनुगु लक्ष्मणकवि – ये 'रामेश्वर महात्म्यमु', 'गंगामहात्म्यसमु' 'गोवर्ण सूर्य शतकमु' और 'सुभाषित रत्नावली' आदि के रचयिता हैं। सुभाषित रत्नावली भर्तृहरि की त्रिशती का सफल अनुवाद है।

पिडिप्रोल लक्ष्मण कवि – इन्होंने 'रावणदंभीयमु' या 'लंका विजयमुद्ध नामक काव्य लिखा। यह दूषित काव्य है। इस कवि ने रावण का आरोप धर्माराव नामक राजा पर करके काव्य की रचना की। इसी युग में क्षेत्रय्या और त्यागराजु नामक दो कवि बड़े सुप्रतिष्ठित हुए हैं। त्यागराजु के पदों की मधुरिमा से दक्षिण भारत के प्रत्येक व्यक्ति का मन मुग्ध हो जाता है।

आधुनिक काल (1850 ई. से आगे)

इस युग में अंग्रेजी भाषा के विद्वान् सीपी ब्राउन महोदय ने तेलुगु की बड़ी सेवा की। इनका निघंटु (कोश) अंग्रेजी से तेलुगु, तेलुगु से अंग्रेजी में लिखा गया प्रसिद्ध कोश है। ये आंध्र प्रदेश में अंग्रेज न्यायाधीश थे। कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु उदारहृदय, समाजसेवी तथा विद्वान् थे। इन्होंने कई नाटक, उपन्यास, काव्य, कहानी आदि ग्रंथ लिखकर साहित्य के प्रत्येक मार्ग को प्रशस्त किया। ये भारतेंदु हरिश्चंद्र की तरह समाजसुधारक थे। सन् 1910 से काव्य की नवीन धारा साहित्य के क्षेत्र में बहने लगी। तेलुगु साहित्य में भी रहस्यवादी, छायावादी कविताएँ प्रवाहित हुईं। इसके साथ साथ स्वतंत्रता के आंदोलन के समय राष्ट्रीयता की लहर साहित्य में तरंगित हो उठी। इस युग में कव्य, नाटक, उपन्यास, समालोचना, कहानी, गीतिनाटक, एकांकी आदि का विकास हुआ। आजकल रेडियो नाटक भी प्रसारित हो रहे हैं। 1940 ई. से प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। अन्नसंकट आदि की समस्याओं को लेकर भी रचनाएँ की गईं।

आधुनिक काल के प्रमुख विद्वान् परव्रस्तु चिन्नयसूरि (1506–1852) ने 'बाल व्याकरणमु' लिखकर तेलुगु भाषा का मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित किया। यह विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य पाठ्यग्रंथ है। इनकी 'नीतिचंद्रिका' पंचतंत्र का गद्यानुवाद है। यह भी विद्यालयों में बहुत प्रचलित है।

बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य – इन्होंने सर्वप्रथम प्रामाणिक कोश 'शब्दरत्नाकर' की रचना की। इसकी टक्कर का लोकप्रिय कोश अबतक अप्राप्य है।

वेदंवेंकटराय शास्त्री – (1859 से 1929) तेलुगु और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रंथों का अनुवाद भी इन्होंने किया।

धर्मवरम् रामकृष्णमाचार्य – (1859 से 1913 तक) इन्होंने कई स्वतंत्र नाटक लिखकर उनका अभिनय स्वयं रंगमंच पर कराया। तेलुगु में खेले जाने योग्य नाटकों के निर्माण की नींव डालने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

जयंती रामय्या ने सात सौ शिलालेखों का प्रकाशन सरकार द्वारा कराया। तेलुगु में इनकी 'शासन पद्य मंजरी' लोकप्रिय है।

गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने तेलुगु भाषाशैली को सुधारा। व्यावहारिक बोलचाल की भाषा में ग्रंथ लिखने की नींव इन्होंने सर्वप्रथम डाली। इनकी कृतियों में 'गद्यचिंतामणि', 'बालकविशरणयमु' उल्लेखनीय हैं। इन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर इनके सुपुत्र डा. सीतापति संस्कृत और तेलुगु के ग्रंथों की रचना कर रहे हैं।

पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह राव – 'राधाकृष्ण कंठाभरण' आदि सात आठ नाटकों के रचयिता हैं। अंग्रेजी में जो स्थान एडिसन को प्राप्त है वही तेलुगु साहित्य में इनका है। इनकी व्यंग्य रचना 'साक्षी' नामक लेखमाला से प्रकट होती है।

श्रीपादकृष्णमूर्तिशास्त्री– ने वेदों का पूर्ण अध्ययन किया। शताधिक तेलुगु ग्रंथों की रचना की। उनकी महाभारत की रचना तेलुगु साहित्य में विशेष उल्लेखनीय है। इसी कारण ये 'आंध्रव्यास' कहे जाते हैं। ये कविसार्वभौम तथा महामहोपाध्याय की उपाधियों से भी विभूषित हुए। इनके नाटक कुछ स्वतंत्र और कुछ अनूदित हैं। ये आंध्र प्रदेश के राजकवि भी बनाए गए।

त्रिलोकमूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम् – जो आंध्र मिल्टन के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये युवावस्था में ही अंधे हो गए। इनके कई नाटक और कहानियाँ आदि अत्यंत सुप्रसिद्ध हैं। चिलुकूरि वीरभद्रराव को आंध्र साहित्य का इतिहास लिखने का श्रेय प्राप्त है।

कोर्मराजु लक्ष्मणराव ने हिंदू मुहम्मदीय मुगल शिवा जी चरितमु आदि कई ग्रंथों की रचना की। 'आंध्रविज्ञान सर्वस्वमु' नाम से तेलुगु में एक विश्वकोश सर्वप्रथम तैयार करने का श्रेय इनको मिला। इसके केवल दो अंक छापे गए। इन्हीं के मार्ग पर तेलुगु भाषा समिति की ओर से तेलुगु विश्वकोश का प्रणयन हुआ।

चार्ल्स फिलिप ब्राउन ने तेलुगु निघंटु (कोष) संकलन करने और बनाने में सफल रहे। आधुनिक युग के युवकों पर पाश्चात्य साहित्य के स्वच्छंदतावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद आदि का घनिष्ट प्रभाव पड़ा। वंग साहित्य के अनुवाद ने भी तेलुग में अपना स्थान ग्रहण किया।

विश्वसत्यनारायण – इन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से साहित्य के प्रत्येक कोने को प्रकाशित किया। इन्होंने श्रीमद्रामायण कल्पवृक्षमु नाम से बृहदाकार रामायण की रचना की। इस पंथ के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कवि वेलूरी शिवराम शास्त्री, स्व. वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, स्व. काटूरि वेंकटेश्वरराव, स्व. जनभंत्रि शेषाद्रि शर्मा, राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा, स्व. मल्लमपल्लि सोमेशेखर शर्मा, नेदवोलुवेंकटराव, शिवशंकर शास्त्री, स्व. सुरवरम् प्रतापरेड्डी, स्व. मानवल्ली रामकृष्ण कवि, काशी कृष्णाचार्य (आंध्र के वर्तमान राजकवि), स्व. राजशेखर शतावधानी, गडियारम् वेंकटेश शास्त्री, उमरअली शाह, जाषुवा, तुम्मल सीताराम मूर्ति चौधरी, स्व. मदिराजु विश्वनाथ राव, स्व. कट्टमंचिरामलिंगा रेड्डी, स्व. दुव्वूरी-रामरेड्डी आदि प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्व कवि की शैली में रचे हुए ग्रंथ तेलुगु साहित्य के आभूषण माने गए हैं। प्रगतिवादी कविता के अग्रदूत हैं श्री रंगम् श्रीनिवास राव। इनके अनुयायियों में अनेकानेक कवि हैं। देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री, रायप्रोलु सुब्बाराव आदि भावकवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। गुरुजाडा अप्पाराव सुप्रसिद्ध लोककवि हैं।

संस्कृत एवं तमिल आदि का प्रभाव

तेलुगु साहित्य अधिकांशतः संस्कृत साहित्य से प्रभावित है, फिर भी उसमें मौलिक सर्जना पर्याप्त मात्र में हुई। तेलुगु में मार्गकविता यानी संस्कृतमय कविता और देशी कविता यानी व्यावहारिक शब्दों की कविता की गयी। मार्गकविता में पुराणसाहित्य का निर्माण हुआ। देशी कविता में द्विपदा साहित्य, जानपद साहित्य आदि का निर्माण हुआ। इसी बीच पुराणसाहित्य, नाटकसाहित्य, प्रबंधसाहित्य के अतिरिक्त उदाहरणसाहित्य आदि का भी निर्माण हुआ।

तेलुगु साहित्य पर तमिल साहित्य का प्रभाव भी काफी पड़ा। मौलिक उपन्यास लिखे गए। आजकल अनुवाद कार्य संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला तथा हिंदी आदि अन्य भाषाओं से हो रहा है। रसगंगाधर आदि लक्षण ग्रंथों का अनुवाद माधव शर्मा आदि कवियों ने किया। 'ध्वन्यालोक' का अनुवाद तिरुत्रेंगडाचार्य और पंतुलु लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने किया। प्रेमचंद्र की कहानियों के साथ साथ वैज्ञानिक साहित्य का अनुवाद भी तेलुगु में 'परमाणुगाथा' आदि ग्रंथों के पूरक के रूप में हो रहा है।

तेलुगु साहित्य क्षेत्र में 11वीं शताब्दी के आरंभ से आज तक के हजार वर्ष में इतिहास पुराणादि से गाँवों की कहानियाँ, गाने आदि तक की हर प्रवृत्ति की

हजारों कृतियों की सृष्टि हुई। आंध्र प्रदेश की साहित्य अकादमी तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं द्वारा इनकी श्रीवृद्धि भी यथासाध्य हो रही है। आंध्रप्रदेश में संस्कृत और तेलुगु भाषा में समान उच्च कोटि की प्रतिभा रखने वाले विद्वान् और कवि विराजमान हैं। इसका एकमात्र कारण इन दो भाषाओं का पारस्परिक संबंध है। संस्कृत के प्रमुख ग्रंथ तेलुगु में अनूदित हुए हैं। इन अनुवादों में व्याकरण, न्याय, वेदांत (दर्शन) आदि शास्त्रग्रंथ भी सम्मिलित हैं। उपर्युक्त साहित्यिक गतिविधियों के कारण तेलुगु भाषा और साहित्य का भविष्य उज्वल एवं विकासोन्मुख दिखाई देता है।

पत्र-पत्रिकाएँ

तेलुगु भाषा में मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ अधिक संख्या में प्रकाशित होती हैं। मासिक पत्रों में प्रथम पत्रिका शारदा थी। भारती का आरंभ 1924 ई. में हुआ। देशोद्धारक काशीनाथुनि नागेश्वर राव इस पत्रिका के संस्थापक थे। उस कांग्रेसी नेता तथा साहित्यसेवी के औदार्य से कई साहित्य लेखक, विद्यार्थी और साहित्यिक संस्थाएँ पली हैं। 'भारती' के अलावा 'सखी' उषा', 'वीणा', 'उदायिनी' और जयंती आदि तेलुगु मासिक पत्रिकाएँ उल्लेखनीय हैं। महिलाओं के लिये गृहलक्ष्मी, हिंदू सुंदरी, आंध्रमहिला आदि मासिक पत्रिकाएँ प्रचलित हैं। आंध्रमहिला का संचालन श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख के द्वारा हुआ।

साप्ताहिक पत्रिकाओं में 'कृष्णा' पत्रिका प्रमुख है जिसका संपादन कृष्णराव जी कर रहे थे। अब उसका संचालन श्री एम. एस. के. शर्मा द्वारा हो रहा है इसके अतिरिक्त साप्ताहिक पत्रिकाओं में 'आंध्र प्रभा', 'आंध्रपत्रिका' आदि उल्लेखनीय हैं। आंध्र प्रदेश सरकार के सूचना विभाग से 'आंध्रप्रदेश' नाम का मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है।

दैनिक पत्रों में आंध्र पत्रिका का संचालन लगभग 45 वर्ष पूर्व 'भारती' के संचालक श्री नागेश्वर राव जी द्वारा हुआ। अब इसके संचालक श्री शंभुदास हैं। 'आंध्रपत्रों का आरंभ करीब 20 वर्ष पूर्व नारायणमूर्ति के संपादकत्व में हुआ। अब इसके सपादक श्री नीलंराजु-वेंकटशेषय्या हैं। इनके अतिरिक्त 'आंध्रज्योति', 'गोलकोंडा पत्रिका', 'आंध्रजनता', 'आंध्रभूमि' और कम्युनिस्टों की 'विशालांध्र' पत्रिका आदि आंध्र प्रदेश से निकल रहे हैं।

साहित्यिक संस्थाएँ

कई साहित्यक संस्थाएँ आंध्र प्रदेश में हैं। उनमें से आंध्र साहित्यिक परिषद् काकिनाडा, साहिती समिति रेपल्लै, अखिल साहित्य कला विवर्धन, आंध्रसंसद और नव्य साहित्य परिषद् गुंटूर, आंध्रसारस्वत परिषद् हैदराबाद उल्लेखनीय हैं। मद्रास की तेलुगु भाषा समिति की ओर से तेलुगु के विश्वकोश का निर्माण और प्रकशन हो रहा है। इसके अलावा हैदराबाद नगर में 'संग्रह आंध्रविज्ञान सर्वस्वमु' के नाम से तेलुगु में एक संक्षिप्त विश्वकोश भी प्रकाशित हो रहा है। उसके दो खंड निकल चुके हैं। इसके मुख्य संपादक उस्मानिया विश्वविद्यालय के तेलुगु विभाग के अध्यक्ष, प्रो. खंडवल्लि लक्ष्मीरंजनम् हैं। आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु एवं तेलुगु भाषासमिति के अध्यक्ष डा. गोपाल रेड्डी हैं। आंध्र सरकार ने आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की स्थापना सन् 1957 ई. में की थी।

13

कन्नड़ साहित्य

कन्नड साहित्य का इतिहास लगभग डेढ़ हजार वर्ष पुराना है। कुछ साहित्यिक कृतियाँ जो 9वीं शताब्दी में रची गयीं थीं, अब भी सुरक्षित हैं। कन्नड साहित्य को मुख्यत: तीन साहित्यिक कालों में बांटा जाता है- प्राचीन काल (450-1200 ई.), मध्यकाल (1200-1700 ई.) तथा आधुनिक काल (1700 से अब तक)। कन्नड साहित्य की एक विशेष बात यह है कि इसमें जैन, वीरशैव और वैष्णव तीनों सम्प्रदायों ने साहित्य रचना की जिससे मध्यकाल में तीन स्पष्ट धाराएँ दिखतीं हैं। यद्यपि 18वीं शताब्दी से पूर्व का अधिकांश साहित्य धार्मिक था, किन्तु कुछ असाम्प्रदायिक साहित्य भी रचा गया।

काल विभाजन

कन्नड साहित्य के इतिहास पर जितने छोटे-बड़े ग्रंथ रचे गए हैं उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं –

सन् 1875 में रे. एफ. किट्टल द्वारा लिखी नागवर्मा के 'छंदोंबुधि' नामक ग्रंथ की प्रस्तावना,

एपिग्राफिया कर्नाटिका में बी.एल. राइस का लेख,

आर. नरसिंहाचार का लिखा हुआ 'कर्नाटक कविचरित' (तीन भागों में, 1907),

ई.पी.राइस की 'ए हिस्ट्री ऑव केनरीस लिटरेचर' (अंग्रेजी में),

डॉ.आर.एस.मुगलि का 'कन्नड साहित्य चरित्रे' (1953)।

श्री.एम. मरियप्प भट्ट का 'संक्षिप्त कन्नड साहित्य चरित्रे' (1901)।

इन इतिहासों में कन्नड साहित्य के इतिहास का कालविभाजन भिन्न-भिन्न आधारों पर किया गया है। किसी ने 12वीं शताब्दी के मध्यकाल तक जैन युग, 12वीं शताब्दी के मध्यभाग से 15वीं शती के मध्यभाग तक 'वीरशैव युग', 15 वीं शताब्दी के मध्यभाग से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक 'ब्राह्मण युग' और उसके बाद के काल को आधुनिक युग माना है, और किसी विद्वान् के अनुसार आरंभकाल 10वीं शताब्दी तक, धर्म-प्राबल्य-काल, (10वी शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक जैन कवि, वीरशैव कवि, ब्राह्मण कवि) रगले, षटपदि एवं नवीनकल कहा है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब तक लिखे गए कन्नड साहित्य के इतिहासों में डॉ. आर.एस। मुगलि का लिखा हुआ कन्नड साहित्य चरित्रे कई दृष्टियों से सर्वोत्तम है। अतः यह कह सकते है कि मुगलि का कालविभाजन सर्वाधिक मान्य है, जो इस प्रकार है–

पंपपूर्व युग (सन् 950 तक),

पंप युग (सन् 950 से सन् 1150 तक),

बसवयुग (सन् 1150 से 1500 तक),

कुमारव्यास युग (सन् 1500 से 1900 तक) और

आधुनिक युग (सन् 1900 से)

प्रो. मुगलि ने प्रत्येक युग के सर्वाधिक प्रतिभासंपन्न कवि के नाम से उस युग का नामकरण करते हुए मोटे तौर पर सारे साहित्य को मार्ग युग, संक्रमण युग, देशी युग के रूप में विभाजित किया है।

पंपपूर्व युग

'कविराजमार्ग', कन्नड का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। चंपू शैली में लिखा हुआ यह रीतिग्रंथ प्रधानतया दंडी के 'काव्यादर्श' पर आधरित है। इसका रचनाकाल सन् 815-877 के बीच माना जाता है। इस बात में विद्वानों में मतभेद है कि इसके रचयिता मान्यखेट के राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनका कोई दरबारी कवि। डॉ. मुगलि का यह मत है कि इसके लेखक नृपतुंग के दरबारी कवि श्रीविजय थे।

कविराजमार्ग का प्रतिपाद्य विषय अलंकार है। ग्रंथ तीन परिच्छेदों में विभाजित है। द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों में क्रमशः शब्दालंकारों तथा

अर्थालंकारों का निरूपण उदाहरण सहित किया गया है। प्रथम पच्छिद में काव्य के दोषादोष (गुण, दोष) का विचार किया गया है। साथ ही ध्वनि, रस, भाव, दक्षिणी और उत्तरी काव्यपद्धतियाँ, काव्यप्रयोजन, साहित्यकार की साधना, साहित्यविमर्श के स्वरूप आदि का संक्षेप में परिचय दिया गया है। कन्नड भाषा, कन्नड साहित्य, कन्नड प्रदेश, कर्नाटक की जनता की संस्कृति आदि कई बातों की दृष्टि से कविराज मार्ग एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

इस काल का दूसरा ग्रंथ है 'वड्डाराधने' जिसमें 19 जैन महापुरुषों की कहानियाँ गद्य में निरुपित हैं। इसके लेखक तथा रचनाकाल के संबंध में यही समझा जाता है कि शिवकोटयाचार्य नामक जैन कवि ने इसे सन् 900–1070 के बीच रचा था। यह प्राकृत के 'भगवतीआराधना' नामक ग्रंथ के आधार पर रचा गया है और इसमें उत्तम काव्य के गुण मिलते हैं। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें कन्नड के गद्य का सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त अब तक इस काल का अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है।

पंप युग

कन्नड साहित्य के इतिहास में पंप का काल विशेष महत्वपूर्ण है, जो 'स्वर्णयुग' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस काल का दूसरा नाम है 'जैन युग', क्योंकि इस अवधि में कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि करने वालों में जैन मतावलंबी कवियों का विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियों में प्रत्येक ने प्रधानतया दो प्रकार के काव्य रचेख्रएक जैन धर्म संबंधी काव्य अथवा धार्मिक काव्य की वस्तु किसी तीर्थकर या महापुरुष की कहानी होती थी और लौकिक काव्य में पौराणिक काव्यों के कथानकों का चित्रण होता था। इस प्रकार दो–दो ग्रंथ रचने का उद्देश्य एक और जैन धर्म के तत्त्वों का प्रचार करना था और दूसरी ओर संस्कृत के लोकप्रिय महाकाव्यों का कन्नड में प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगों को अपने धर्म की ओर आकर्षित करना था। ये जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के विद्वान् थे, साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे और प्रतिभासंपन्न कवि भी। इन कवियों ने आवश्यक परिवर्तन के साथ पौराणिक कथानकों को अपने धर्म के अनुकूल अवश्य बनाया, किंतु उनकी मौलिकता को नष्ट न होने देकर रोचकता को बनाए रखा। जैन कवियों की रचनाओं से कन्नड भाषा और साहित्य का बड़ा उपकार हुआ। इस अवधि में चंपू काव्यशैली का विशेष प्रचार हुआ।

इस समय के धार्मिक काव्यों में अद्भूत तथा शांत और लौकिक काव्यों में वीर तथा रौद्र रसों की विशेष रूप से अभिव्यंजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकार के काव्यों के अतिरिक्त छंद, रस, अलंकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयों पर भी ग्रंथ लिखे गए। इस प्रकार इस युग में कन्नड साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युग के प्रसिद्ध कवि तीन थे–पंप, पोन्न तथा रन्न जो 'रन्नत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाकवि पंप अथवा आदि पंप ने दो काव्य रचे–'आदिपुराण' और 'विक्रमार्जुनविजय' अथवा 'पंपभारत'। आदिपुराण में जिनसेनाचार्यकृत संस्कृत पूर्वपुराण के आधार पर प्रथम तीर्थकर वृषभनाथ का जीवनचरित चित्रित किया गया है और 'विक्रमार्जुनविजय' में महाभारत के कथानक का निरूपण किया गया है। ये दोनों चंपूकाव्य हैं। पंप कन्नड के आदिकवि माने जाते हैं। इनका समय सन् 941 के लगभग माना जाता है।

पोन्न पंप के समकालीन थे। उन्होंने तीन ग्रंथ रचे थे–'शांतिपुराण', 'जिनाक्षरमाला' तथा 'भुवनैकरामाभ्युदय'। अंतिम ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। रन्न की मुख्य रचनाएँ दो हैं– 'अजितपुराण' तथा 'साहस भीमविजय' अथवा 'गदायुद्ध'। गदायुद्ध के नायक भीम हैं। गदायुद्ध में वीररस की अनूठी व्यंजना हुई है। इसी काव्य से रन्न की कीर्ति अचल हुई है।

पंप युग के अन्य कवियों में चाउंडराय, नागवर्म (प्रथम), दुर्गसिंह, चंद्रराज, नागचंद्र, नागवर्म (द्वितीय) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। चाउंडराय का 'चाउंडरायुपराण' प्राचीन कन्नड गद्य का सुंदर नमूना है। नागवर्म प्रथम के दो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं– 'कर्नाटक कांदबरी' तथा 'छंदोंबुधि'। 'कर्नाटककादंबरी' बाण की कादंबरी का कन्नड प्रतिरूप है। यह चंपू शैली में है। प्रो. मुगलि का मत है कि कन्नड में अनूदित जितने ग्रंथ हैं उनमें नागवर्म (प्रथम) की कर्नाटककादंबरी सर्वश्रेष्ठ है–चंद्रराज और श्रीधराचार्य नागवर्म (प्रथम) के समकालीन कवि हैं। चंद्रराज का कामशास्त्र पर लिखा हुआ 'मदनतिलक' नामक ग्रंथ और श्रीधराचार्य का 'जातकतिलक' नामक ज्योतिष ग्रंथ, दोनों उत्तम कृतियाँ हैं। इसी काल में दुर्गसिंह ने, जो भागवत संप्रदाय के कवि थे, संस्कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद प्रस्तुत किया।

11वीं और 12वीं शताब्दियों के बीच एक अन्य प्रसिद्ध कवि हुए, जिनका नाम नागचंद्र था। क्योंकि इन्होंने पंपभारत से प्रेरणा पाकर रामायण की रचना की, इसलिए इनका दूसरा नाम 'अभिनव पंप' पड़ा। नागचंद्र ने भी पूर्ववर्ती जैन

कवियों की भाँति दो काव्य रचे–'मल्लिनाथपुराण' तथा 'रामचंद्रचरितपुराण' अथवा 'पंपरामायण'। पंपरामायण ही कन्नड के उपलब्ध रामकथा संबंधी काव्यों में सबसे प्राचीन है।

पंपयुग में महाकवियों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपनी महान कृतियों से कन्नड को समृद्ध बनाया। यद्यपि इस काल में बड़े-बड़े कलात्मक प्रौढ़ काव्यों का निर्माण हुआ, तो भी समाज के साधारण लोगों के जीवन के साथ साहित्य का संपर्क नहीं था। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय के कवि राजाओं के आश्रय में रहते थे और वे जो कुछ लिखते थे, या तो अपने आश्रयदाता राजाओं का यश गाने के लिए लिखते थे या दरबार के अन्य पंडितों के बीच वाहवाही लुटने के लिए अथवा अपने धर्म का प्रचार करने के लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि बोलचाल की भाषा साहित्य सर्जन के लिए उपयुक्त नहीं समझी गई। सर्वत्र संस्कृत का प्रभाव पड़ा। चंपू शैली में जो प्रौढ़ काव्य रचे गए वे साधारण जनता की वस्तु न होकर पंडितों तक सीमित रहे।

बसव युग

12 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 15वीं शताब्दी तक का काल बसव युग कहलाता है। इस युग का दूसरा नाम 'क्रांतियुग' है। इस समय कर्नाटक में धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जो क्रांति से अछूता रह सका हो। इस क्रांति के उन्नायक बसव, बसवण्ण अथवा बसवेश्वर थे, इलिए इस युग का नाम बसव युग पड़ा।

इस काल में संस्कृतनिष्ठ कन्नड के स्थान पर बोलचाल की कन्नड साहित्य के निर्माण के लिए उपर्युक्त समझी गई और संस्कृत की काव्यशैली के बदले देशी छंदों को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। पिछली शताब्दियों में जैन मतावलंबियों का साहित्यक्षेत्र में सर्वाधिकार था। इस युग में भिन्न-भिन्न मतावलंबियों ने साहित्य के निर्माण में योग दिया। साहित्य की श्रीवृद्धि में भक्ति एक प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप में सहायक हुई।

12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बसवेश्वर का आविर्भाव हुआ। उन्होंने वीरशैव मत का पुनः संघटन करके कर्नाटक के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में बड़ी उथल पुथल मचाई। बसव तथा उनके अनुयायियों ने अपने मत के प्रचार के लिए बोलचाल की कन्नड को माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तों ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार एवं नीति पर निराडंबर शैली में अपने अनुभवों की बातें सुनाई, जो वचन

साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन वीरशैव भक्तों अथवा शिवशरणों के वचन एक प्रकार के गद्यगीत हैं। शिवशरणों ने साहित्य के लिए साहित्य नहीं रचा। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना ही था। उनके विचारों में सरलता थी, सचाई थी और सच्चे जिज्ञासु की रसमग्नता था। इसलिए उनकी वाणी में साहित्यिक सौष्ठव अपने आप आ गया। इन शिवशरणों के वचनों ने कर्नाटक में वही कार्य किया जो कबीर तथा उनके अनुयायियों ने उत्तर भारत में किया।

बसव ने भक्ति का उपदेश दिया और इस भक्ति की साधना में वैदिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, जाति पाँति का भेदभाव, अवतारवाद, अंधश्रद्धा आदि को बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्णरहित, वर्गरहित समाज के निर्माण द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधन का मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसव के समकालीन वीरशैव भक्तों में अल्लमप्रभु, अक्कमहादेवी, चेन्न-बंसव तथा सिद्धराम प्रमुख हैं।

इन वचनकार शिवशरणों के अतिरिक्त वीरशैव मतावलंबी बहुत से ऐसे कवि हुए जिन्होंने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकार के काव्यग्रंथ देशी छंदों का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किए। 12वीं और 13वीं शताब्दियों के बीच तीन श्रेष्ठ कवि हुए हरिहर, राघवांक और पद्मरस। इस काल के जैन कवियों में नेमिचंद्र, बंधुवर्मा, जन्न, मल्लिकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि और कुमुदेंदु मुनि के नाम उल्लेखनीय हैं।

13वीं शताब्दी में कर्नाटक की धार्मिक स्थिति में फिर से उथल पुथल हुई। एक ओर कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवैष्णव संप्रदाय से प्रभावित हुआ और दूसरी ओर उसमें मध्वाचार्य के द्वैत मत की भक्ति की नई लहर चली। इन दोनों वैष्णव संप्रदायों द्वारा चलाई गई भक्तिधारा से कन्नड साहित्य में नूतन शक्ति का संचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाकाव्यों के कथानकों का कन्नड में नए सिरे से विशुद्ध मूल रूप में निरूपण हुआ। इस अवधि में रुद्रभट्ट नामक एक वैष्णव कवि हुए जिनका 'जगन्नाथविजय' कन्नड का सर्वप्रथम वैष्णव प्रबंध काव्य माना जाता है। यह चंपू शैली में लिखा गया है और इसकी कथावस्तु कृष्ण से संबंधित है।

कुमारव्यास युग

कनक दास (1509 ई. -1609 ई.)

15वीं शताब्दी से 19वीं 'ताब्दी के अंत तक का काल कुमारव्यास युग कहलाता है। इस अवधि में विजयनगर के सम्राटों तथा मैसूर के राजाओं ने कन्नड

साहित्य की श्रीवृद्धि में विशेष हाथ बँटाया। वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ी जिसकी प्रतिक्रिया कन्नड साहित्य में भी दिखाई पड़ी। वैष्णव धर्म द्वारा प्रचारित भक्ति साहित्यसर्जन में प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। साहित्य जनता के अति निकट संपर्क में आया। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि नार्णप्प (नारणप्प) हैं, जो अपनी लोकप्रियता के कारण 'कुमारव्यास' के अभिधान से प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत संप्रदाय के प्रमुख कवि थे।

नार्णप्प अथवा कुमारव्यास की जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। प्रो. मुगलि के अनुसार 14वीं और 15वीं शताब्दियों के बीच कुमारव्यास जीवित थे। कुमारव्यास ने 'कन्नड भारत' अथवा 'गदुगिन भारत' और 'ऐरावत' नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन ऐरावत के उनकी कृति होने में संदेह प्रकट किया गया है। 'कन्नड भारत' में व्यासरचित महाभारत के प्रथम दस पर्वो की कथा का निरूपण किया गया है। यद्यपि पंप ने अपने 'पंपभारत' द्वारा महाभारत की सारी कथा का कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत किया था तो भी वह कुमारव्यास के कन्नडभारत की तरह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके दो कारण हैं– एक यह है कि पंपभारत में पांडित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी और दूसरा यह कि उसमें जैन धर्म का रंग भी चढ़ा था।

कुमारव्यास के कन्नडभारत के उपरांत महाभारत, रामायण और भागवत के कथानकों के आधार पर बहुत से उत्तम काव्य षट्पदि शैली में प्रस्तुत किए गए। कुमारव्यास के दिखलाए हुए मार्ग पर चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर कन्नड में 'तोरवेरामायण' की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबंध काव्य हैं, जो प्राचीन कन्नड की एक सरस कलाकृति है। भागवत मतावलंबी कवियों में तिम्मण्ण कवि, चाटु विट्ठलनाथ, लक्ष्मीश तथा नागरस के नाम उल्लेखनीय हैं। कुमारव्यास से प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण कवि ने महाभारत के अंतिम आठ पर्वो की कथा का निरूपण 'कृष्णराज भारत' नामक अपने काव्य में किया। सबसे पहले समग्र भागवत का कन्नड पद्यानुवाद चाटु विटठलनाथ नामक भागवत कवि ने प्रस्तुत किया। लगभग इसी काल में एक अत्यंत प्रतिभासंपन्न कवि हुए जिनका नाम लक्ष्मीश था। इनका लिखा हुआ 'जैमिनिभारत' अनुपम काव्य है जिसमें महाभारत के कतिपय रोचक प्रसंगों का सुंदर एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। लोकप्रियता की दृष्टि से कर्नाटक में कुमारव्यास के भारत के बाद जैमिनिभारत का स्थान है। नागरस

नामक कवि ने भगवद्गीता का 'वासुदेवकथामृतसार' नामक कन्नड पद्यानुवाद प्रस्तुत किया।

जिस प्रकार इस अवधि में कुमारव्यास, कुमारवाल्मीकि, लक्ष्मीश जैसे भागवत संप्रदाय के कवियों ने भारत, रामायण, भागवत आदि महाकाव्यों से कथावस्तु लेकर कन्नड में भक्तिप्रधान प्रबंध काव्यों का प्रणयन किया, उसी प्रकार माध्वमतावलंबी भक्तों ने बोलचाल की कन्नड में गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्ति का संदेश कर्नाटक के घर-घर पहुँचाया। इन भक्तों की परंपरा का आरंभ 13वीं शताब्दी में नरहरितीर्थ द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तों की एक बड़ी मंडली जुट गई थी जो प्रधानतया दो भागों में विभाजित थी। एक दल का नाम था 'व्यासकूट' और दूसरे का 'दासकूट'। इन दोनों में अंतर यही था कि वे भक्त व्यासकूट के कहलाते थे जो अधिकांश ब्राह्मण थे और जो अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत को ही उपयुक्त समझते थे, एवं वे भक्त दासकूट के माने जाते थे जिनमें सभी जातियों के लोग सम्मिलित थे और जो कन्नड के माध्यम से भजन, कीर्तन रचते थे। संप्रदाय की तत्त्व संबंधी बातों में 'व्यासकूट' तथा 'दासकूट' के भक्तों में कोई अंतर नहीं था। इन दोनों दलों के भक्त कर्नाटक में हरिदास के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन हरिदासों ने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्यवहार आदि विषयों पर सरस, किंतु व्याकरणबद्ध कन्नड में हजारों पद रचकर कन्नड साहित्य का भांडार भरा। हरिदासों की परंपरा 18वीं शती तक चलती है। हरिदासों के गीतों का कन्नडवासी जनता पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इन हरिदासों में पुरंदरदास, कनकदास, जगन्नाथदास आदि प्रमुख हैं।

17वीं शताब्दी में मैसूर (संप्रति कर्नाटक) के राजा चिकदेवराय के आश्रय में रहते हुए कतिपय वैष्णव कवियों ने उत्तम काव्यों का निर्माण किया। इन कवियों में तिरुमलार्य, चिकुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेलवन कट्टे गिरियम्मा, महालिंगरंग कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव संप्रदाय का प्रभाव कन्नड साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ा। चिकदेवराय 'बिन्नप' तथा 'गीतगोपाल' नामक अपनी रचनाओं में तिरुमलार्य ने श्रीवैष्णव संप्रदाय के साथ-साथ ऐकांतिक भक्ति का निरूपण किया है। 'हदिवदेयधर्म' होन्नाम्मा का एक सुंदर काव्य है जिसमें सतीधर्म (गृहिणी धर्म) का प्रांजल भाषा में वर्णन किया गया है। महालिंगरंग कवि के लिखे 'अनुभवामृत्त' में शंकर के अद्वैत सिद्धांत का सार सरस कन्नड में प्रस्तुत किया गया है। चिकदेवराय स्वयं अच्छे कवि थे।

इस युग में वीरशैव मतावलंबी भक्तों एवं कवियों ने भी नाना प्रकार के ग्रंथ रचकर कन्नड की सेवा की। इनमें कुछ शतक शैली में लिखे गए हैं। वचन शैली के अतिरिक्त कुछ गद्य ग्रंथ भी लिखे गए और सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चंपू, गीत आदि छंदों का विशेष प्रयोग किया गया। किंतु इस लंबी अवधि में जितने वचनकार हुए वे इने गिने ही हैं।

चरितकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियों में चामरस, विरूपाक्ष पंडित और षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरस के लिखे काव्यों में 'प्रभुलिंगलीले' श्रेष्ठ चरितकाव्य है। 'प्रभुलिंगलीले' में अल्लम प्रभु के जीवनवृत्त का विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियों में श्रेष्ठ प्रबंध काव्य रचनेवालों में हरिहर के बाद चामरस का नाम आदर के साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पंडित का लिखा हुआ चेन्नबसव पुराण भी उत्तम प्रबंध काव्य है, जिसमें प्रसिद्ध वीरशैव भक्त चेन्नबसव की कहानी कही गई है। हरिहर के 'बसवराजरगले' तथा चामरस के 'प्रभुलिंगलीले' जैसे चरितकाव्यों में मतधर्म तथा काव्यधर्म का जैसा सुंदर समन्वय हुआ है, वैसा 'चेन्नबसवपुराण' में नहीं हो पाया है।

पंप युग में जैन कवियों ने अपने श्रेष्ठ प्रबंध काव्यों के द्वारा कन्नड में चंपूशैली को अत्यंत लोकप्रिय बनाया। लेकिन आगे चलकर इस शैली का उपयोग कम होता गया। कुमारव्यास युग में फिर से यह शैली अपनाई गई। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं अपितु वीरशैव थे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में षडक्षरदेव नामक एक प्रतिभासंपन्न वीरशैव कवि ने चंपूशैली में तीन प्रबंध काव्य रचे जिनके नाम 'राजशेखरविलास', 'शबरशंकरविलास', तथा 'वृषभेंद्रविजय' हैं। 'राजशेखरविलास' तथा 'शबरशंकरविलास', में शिवलीला से संबंध रखनेवाली कहानियों का वर्णन किया गया है। 'वृषभेंद्रविजय' की कथावस्तु बसव का जीवनवृत्त है।

इस युग में एक महान वीरशैव संत का अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था, इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम 'सर्वज्ञ' था। इन्होंने 'त्रिपदि' नामक छंद में अपनी अमृत वाणी सुनाई है। प्रत्येक छंद 'सर्वज्ञ' शब्द के साथ समाप्त होता है और हिंदी के दोहे की तरह स्वतंत्र अर्थ रखता है।

इस अवधि में जैन धर्म का प्रभाव लुप्त हो चला था। फिर भी कुछ जैन मतावलंबी कवियों ने अपनी शक्ति भर कन्नड की सेवा की। जैन कवियों ने प्रचलित देशी काव्यशैलियों में काव्यरचना की। ऐसे कवियों में भास्कर,

तेरकणांबि, बोम्मरस, शिशुमायण, तृतीययमंगरस, साल्व कवि तथा रत्नाकरवर्णि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रत्नाकरवर्णि सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी कृतियों में 'भरतेशवैभव' मुख्य है। प्रथम तीर्थकर आदिदेव के पुत्र भरत और बाहुबलि के उज्वल चरित्रों का वर्णन ही 'भरतेशवैभव' की कथावस्तु है। पंत, हरिहर, कुमारव्यास जैसे कन्नड के महाकवियों की श्रेणी में रत्नाकरवर्णि का नाम भी लिया जाता है।

इस युग की अंतिम अर्थात् 19वीं शताब्दी में कुछ अच्छे कवि हुए। देवचंद्र नामक जैन कवि ने 'रामकथावतार' लिखकर जैन रामायण परंपरा को आगे बढ़ाया। मैसूर (संप्रति कर्नाटक) के राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडियर के दरबारी कवियों में केंपुनारायण तथा बसवप्प शास्त्री ने संस्कृत एवं अंग्रेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नड में नाटक साहित्य के निर्माण के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदास के शाकुंतल आदि नाटकों का बसवप्प शास्त्री ने इतनी सफलता से अनुवाद किया कि वे 'अभिनव कालिदास' के नाम से प्रसिद्ध हुए। केंपुनारायण ने मुद्रामंजूष' नामक, एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। नंदवंश की कहानी इसकी कथावस्तु है जिसपर मुद्राराक्षस का प्रभाव लक्षित होता है। यही कन्नड का सर्वप्रथम उपन्यास है।

19वीं शताब्दी के अंत में मुद्दण नामक एक सफल कवि हुए जिन्होंने तीन सरस काव्य लिखे : 'अद्भुत रामायण', 'रामपट्टाभिषेक' और 'रामाश्वमेध'। 'अद्भूत रामायण' और 'रामाश्वमेध' दोनों गद्य ग्रंथ हैं। इनके गद्य की यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नड की प्रौढ़ता एवं मधुरता के साथ-साथ आधुनिक कन्नड की सरलता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग

भारतीय जीवन के इतिहास में 19वीं शती का उत्तरार्ध अत्यंत महत्वपूर्ण है। चूँकि इस समय समान परिस्थितियों तथा प्रभावों से सारा भारतीय जीवन मथित तथा आंदोलित हुआ था, अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कन्नड साहित्य की गतिविधि की कहानी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की कहानी से कुछ भिन्न नहीं हैं।

आधुनिक कन्नड साहित्य को प्रधानतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं–

(क) 1900 तक प्रथम उत्थान,
(ख) 1901 से 1920 तक द्वितीय उत्थान,
(ग) 1921 से 1940 तक तृतीय उत्थान, तथा
(घ) 1940 से अब तक चतुर्थ उत्थान।

आधुनिक कन्नड़ का प्रथम उत्थान

आधुनिक कन्नड का प्रथम उत्थान गद्य के साथ प्रारंभ होता है जिसके निर्माण में ईसाई मिशनरियों (प्रोटेस्टेंट) की सेवा उल्लेखनीय है। कहा जाता है, 1809 में रेवरेंड विलियम केरी ने बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया। लगभग 1831 में बल्लारि तथा मंगलोर में मिशनरियों द्वारा मुद्रणालय स्थापित किए गए जिनके कारण कन्नड ग्रंथों की छपाई में सहायता मिली। प्राय: सन् 1823 में प्रकाशित कन्नड बाइबिल ही आधुनिक कन्नड का सर्वप्रथम गद्य ग्रंथ है। तदुपरांत ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के हेतु कन्नड में पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित कराई जिनमें 'सभापत्र', 'सत्यदीपिके', तथा 'कर्नाटक' मुख्य हैं। 19वीं शती की अंतिम तीन दशाब्दियों में कन्नड भाषा तथा साहित्य के अभिवर्धन के लिए महत्वपूर्ण कार्य हुआ। इधर दक्षिण कर्नाटक में कर्नाटक के राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप कर्नाटक में प्राच्य पुस्तकालय तथा उधर धारवाड़ में कर्नाटक विद्यावर्धक संघ की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं की ओर से प्राचीन शिलालेखों तथा पांडुलिपियों के संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ। बी.एल. राइस तथा आर. नरसिंहाचार ने अनथक प्रयत्न करके 'दि एपिग्राफिया कर्नाटिका' का बारह भागों में प्रकाशन कराया। राइस ने भट्टाकलंक के 'शब्दानुशासन' नामक प्राचीन व्याकरण ग्रंथ का संपादन किया और उसकी प्रस्तावना में कन्नड साहित्य के इतिहास की रूप रेखा अंग्रेजी में पहली बार प्रस्तुत की। मंगलोर के बासेल मिशन के तत्त्वावधान में रेवरेंड एफ. किट्टल नामक एक जर्मन पादरी ने 18 वर्ष निरंतर परिश्रम करके कन्नड पंडितों के सहयोग से 'कन्नड अंग्रेजी बृहत्कोश' प्रकाशित कराया, साथ ही कन्नड के प्राचीन ग्रंथों का संग्रह एवं संपादन कार्य प्रारंभ किया। इसी अवधि में मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से फोर्ट सेंट कालेज में कन्नड सिखाने के उद्देश्य से पाठय पुस्तकें प्रकाशित की गई। इस प्रकार यद्यपि कन्नड भाषा तथा साहित्य के पुनरुद्धार के लिए स्तुत्य उद्योग हुआ, तो भी स्कूल कालेजों में

शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण कन्नड के प्रति जनता में जैसा आदर होना चाहिए था वैसा नहीं उत्पन्न हुआ।

द्वितीय उत्थान

1900 से 1921 ई. तक का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल है। पहली बार ऑर. नरहिंसाचार ने सन् 1907 में कन्नड साहित्य का एक बृहत् इतिहास 'कर्नाटक कविचरिते' तीन भागों में प्रकाशित किया जिसमें एक सहस्र वर्षो के कन्नड के समस्त कवियों तथा उनकी कृतियों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत हो गया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस इतिहास में कवि और काव्य का मूल्यांकन आधुनिक आलोचना पद्धति के आधार पर किया गया है, फिर भी यह निश्चित है कि कन्नड साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य के लिए 'कर्नाटक कविचरिते' द्वारा एक निश्चित आधारशिला प्रस्तुत हो गई। सन् 1915 में ई.पी. राइस ने अंग्रेजी में हिस्ट्री ऑव कनरीज लिटरेचर लिखकर पाश्चात्य दृष्टिकोण से कन्नड साहत्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार प्रथम उत्थान में राइस के 'दि एपिग्राफिया कर्नाटिका' के प्रकाशन के फलस्वरूप आधुनिक दृष्टिकोण से साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रारंभ हुआ और नरसिंहाचार के 'कर्नाटक कविचरिते' के निर्माण से कन्नड के साहित्यकारों की जीवनियों तथा उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की निश्चित पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी समय एक ओर बँगलोर में कन्नड साहित्य परिषद् का जन्म हुआ और दूसरी ओर मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं के आश्रय में कन्नड भाषा एवं साहित्य के संवर्धन के लिए नया परिवेश प्रस्तुत हुआ।

तृतीय उत्थान

सन् 1921 से 1940 तक की अवधि में कन्नड का आधुनिक काल अपने स्वर्णयुग में प्रवेश करता है। इस तृतीय उत्थान के प्रारंभ में प्रो. बी. एम. श्रीकंठय्या, जो कर्नाटक में 'श्री' अभिधान से लोकप्रिय हैं, कन्नड भाषा और साहित्य में नवोदय के अग्रदूत हुए। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से कन्नड में भी आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाएँ प्रस्फुटित हो निबंध आदि सभी विधाएँ अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगीं जिसके परिणामस्वरूप कन्नड का साहित्य सशक्त होकर जीवन को सही अर्थ में प्रतिबिंबित करने लगा।

कन्नड़ साहित्य का परिचय

कविता

कन्नड में आधुनिक कविता का प्रारंभ एक प्रकार से अंग्रेजी कविता के अनुवाद तथा अनुकरण के साथ-साथ हुआ। विशेष रूप से बी.एम. श्रीकंठय्या का अंग्रेजी कविताओं का कन्नड अनुवाद 'इंगलीषु गीतेगलु' नवयुवकों के लिए भाषा, वस्तुविधान, शैली, छंद एवं अलंकारयोजना की दृष्टि से पथप्रदर्शक बन गया। इसी समय कर्नाटक के विविध भागों में कवियों की खासी मंडलियाँ स्थापित हुई, धरती का प्रेम तथा राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ। प्रगाथा, विसापिका, गीतिकाव्य, सॉनेट गीत और भजन, वर्णनात्मक कविता, खंडकाव्य, वीरकाव्य, रोमांस, दार्शनिक कविता, गद्यगीत और स्वागतभाषण-ये और अन्य काव्यविभाग उत्कृष्ट आनंद और उच्च प्रेरणा से विकसित हुए। इस दल के कवियों में अनुभूति की गहराई, व्यापकता तथा कृतियों के परिमाण की दृष्टि से कुवेंपु (के.वी. पुट्टप्पा) तथा अंबिकातनयदत्त (द.रा.बेंद्रे) सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। लगभग बीस कवितासंग्रह तथा रामायणदर्शन नामक अतुकांत महाकाव्य कुवेंपु की अमर कीर्ति के आधारस्तंभ हैं। प्रधानतया बेंद्रे ने गीत ही रचे हैं। 'गरि', 'सखीगीत', 'नादलीले', 'अरुल मरुल' उनके गीतसंग्रहों में मुख्य हैं।

सन् 1930 में जिस प्रगतिशील आंदोलन का सूत्रपात हुआ उसने इस समय के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। कविता के क्षेत्र में भी नई शक्ति का संचार हुआ। नए छंद और नए रचनाविधान की प्रतिष्ठा हुई।

लघुकथा

आधुनिक कन्नड साहित्य में छोटी कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय है। मास्ति वेंकटेश अयंगार (श्रीनिवास) आधुनिक कन्नड कहानी साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनकी कहानियों में दार्शनिकता, देशभक्ति, ऐतिहासिकता, ग्रामीण जीवन के चित्र, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पारिवारिक चित्रण आदि तत्त्वों का बड़ा ही सुंदर समावेश हुआ है। कहानी के वस्तुविधान तथा शिल्पविधान की दृष्टि से इस समय कन्नड की कहानी में विकासक्रम का स्पष्ट परिचय मिलता है।

उपन्यास

कन्नड में बँगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद के साथ उपन्यास साहित्य के निर्माण में नई प्रेरणा का संचार हुआ। बी.वेंकटचार ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों का सफल अनुवाद प्रस्तुत किया। गलगनाथ ने अनुवाद के अतिरिक्त 'माधव करुण विलास' तथा 'कुमुदिनी' नामक दो मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। फिर भी, गुल्वाडि वेंकटराव का लिखा 'इंदिरादेवी' (1899) तथा एम.एस. पुट्टण्णा का लिखा 'माडिदुण्णों महाराया' कन्नड के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माने जाते हैं। इस अवधि में कन्नड में विशिष्ट उपन्यास लिखे गए जिनके कई उदाहरण आज भी मिलते हैं, जैसे बटगेरि के 'सुदर्शन' में सामाजिक शिष्टाचार के उपन्यास, ए.एन. कृष्णराव के 'संध्याराग' में चरित्रप्रधान उपन्यास, कस्तूरि के 'चक्रदृष्टि' में व्यंग्यप्रधान उपन्यास, देवुड के 'अंतरंग' में मनोवैज्ञानिक उपन्यास, शिवराम कारंत के 'मरलि मण्णिगे' में कालप्रधान उपन्यास, मुगलि के 'कारणपुरुष' में समस्याप्रधान उपन्यास। मास्ति का 'चेन्नबसव' नामक, के.वी. अय्यर का 'शांतला' तथा ए.एन. कृष्णराव का 'नटसार्वभौम', त.रा.सु. का 'हसंगीते', के. वी. पुट्टप्पा का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडति', कारंत के 'बेट्टद जीव' और 'चोमनदुडि' गोकाक' का 'समरस वे जीवन' आदि उपन्यास अपने विशिष्ट गुणों के कारण कन्नड भाषाभाषियों के जीवन, संस्कृति तथा इतिहास के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। मिर्जी अण्णाराव, बसवराज, कट्टीमानी, कुलकुंद, शिवराव, इनामदार और पुराणिक भी आधुनिक कन्नड के समर्थ उपन्यासकार हैं। कारंत का 'मरलि मण्णिगे', के.वी. अय्यर का 'शांतला', त.रा. सु. का 'हंसगीते' का हिंदी रूपांतर प्रकाशित हो चुका है। कुवेंपु का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडिति' अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

नाटक

जिस प्रकार हिंदी के नाटक साहित्य और रंगमंच का मूल रूप रामलीला, कृष्णलीला, रासधारी मंडलियों के रूप में पाया जाता है उसी प्रकार कन्नड के नाटक तथा रंगमंच का मूलरूप 'यक्षगान', 'बयलाट', 'ताळमद्दले' के रूप में प्राप्त होता है। यक्षगान के लिए लिखे गए नाटक प्रायः पद्य में पाए जाते हैं। कन्नड के प्राचीन साहित्य के अंतर्गत सन् 1680 में लिखा हुआ सिंगरार्य का 'मित्रविंदा गोविंद' कन्नड का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। यह हर्ष की 'रत्नावली नाटिका' के आधार पर लिखा हुआ रूपक है। आधुनिक कन्नड में

पहले पहल संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इन अनुवादकों में बसवप्प शास्त्री, नंजनगूड, श्रीकंठ शास्त्री एवं गहणि कृष्णाचार्य, रामशेष शास्त्री, अनंतनारायण शास्त्री, कवितिलक अप्पा शास्त्री, नरहरि शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय अनूदित नाटकों में उत्तररामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, नागानंद मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र, शाकुंतल आदि मुख्य हैं। अनुवाद करने की कला में बसवप्पा शास्त्री ने इतनी सफलता पाई कि उन्हें कर्नाटक के तत्कालीन महाराजने 'अभिनव कालिदास' की उपाधि से पुरस्कृत किया। आगे चलकर अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद होने लगा। इसी समय कुछ नाटक कंपनियाँ भी स्थापित हुई जिनके लिए विशेष रूप से पौराणिक तथा कुतूहलवर्धक सामाजिक नाटक लिखे गए। ऐसे नाटकों में कृष्णलीला, रुक्मिणीस्वयंवर, लंकादहन, कृष्णपारिजात, सदार में, कबीरदास, जलंधर मुख्य हैं। कर्नाटक के प्रसिद्ध नट ए.बी. वरदाचार तथा गुब्बिवीरण्णा द्वारा कंपनियों के आश्रय में रंगमंच की ही नहीं, नाटय साहित्य की भी विशेष वृद्धि हुई।

अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप कन्नड के नाटक साहित्य पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव पड़ा। आधुनिक कन्नड के प्रमुख साहित्यकारों ने भी नाटक रचकर उसकी श्रीवृद्धि में योग दिया। नाटक की वस्तुओं में विविधता दिखाई देने लगी। शेरिडन, ऑस्कर वाइल्ड और इब्सन जैसे पाश्चात्य लेखकों का अनुकरण करके कन्नड में बड़े ही सुंदर, व्यंगात्मक, हास्य-रस-प्रधान नाटक रचे गए। ऐसे नाटकों में टी.पी. कैलासम के 'होमरूल' तथा 'टोल्लुगट्टि', श्रीरंग का 'हरिजन्वार', कारंत का 'गर्भगुडि', कुवेंपु का 'रक्तक्षि' आदि नाम उल्लेखनीय हैं। दु:खांत नाटकों में, बी.एम. 'श्री' के 'अश्वत्थामन' और 'गदायुद्ध' तथा कुवेंपु के 'बेरल्गेकोरल' मुख्य कहे जा सकते हैं। रोमांटिक एवं सुखांत नाटकों में गोकाक के 'युगांतर' जैसे नाटक पठनीय हैं। आधुनिक कन्नड में एकांकी, गीतिनाटक, अतुतांक पद्यनाटक, संगीतरूपक (ऑपेरा), रेडियो नाटक आदि नाटक के विविध रूपों का भी प्रचलन हुआ है।

निबन्ध

निबंध आधुनिक कन्नड साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। आधुनिक युग के द्वितीय उत्थान में आलूर वेंकटराव के 'कर्नाटक गतवैभव' तथा पंडित तारानाथ के 'धर्मसंभव' जैसे विचारात्मक ग्रंथों द्वारा आधुनिक कन्नड की गंभीर

गद्यशैली का मार्ग प्रशस्त हुआ। डी.वी. गुडप्पा के 'साहित्यशक्ति', स.स. मालवाड के 'कर्नाटक-संस्कृति-दर्शन', सिद्धवनहल्लि कृष्णशर्मा के गांधी साहित्य में विचारप्रधान गद्यशैली निखरने लगी। व्यंग्यात्मक निबंधों के लिए जी. पी. राजरत्नम, ना. कस्तूरि, कारंत, बल्लारि बीचि की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पी. टी. नरसिंहाचार के भावनाचित्र, प्रो.ए.लुन. मूर्तिराव के हगएगनसुगलु एवं वामन भट्ट के कोदंडन उपन्यास गलु जैसे निबंधों में लघु वार्तालाप के सुंदर नमूने मिलते हैं। बेंद्रे के रेखाचित्र, टी.एन. श्रीकंठय्या और ए.एन. कृष्णराव के आलोचनात्मक निबंध, पुटटप्पा के वर्णनात्मक निबंध, गोकाक के पत्रात्मक तथा भौगोलिक सांस्कृतिक निबंध, मोटे तौर पर यह दर्शाते हैं कि इस क्षेत्र में कितनी और कैसी उपलब्धियाँ हुई हैं। डी.वी.गुडप्पा के 'गोखले', पुट्टप्पा के 'विवेकानंद', मधुचेत्र के 'प्रिल्यूड' मास्ति के 'रवींद्रनाथ ठागुर' राजरत्नम् के 'दस वर्ष', दिवाकर के 'सेरेमने', गोकाक के 'समुद्रदाचेयिंद' आदि ग्रंथों में क्रमशः क्लासिकल जीवनचरित, रोमांटिक साहित्यिक तथा सौंदर्यात्मक जीवनवृत्त, साहित्यिक डायरी, आदि निबंध के विविध रूपों के सुंदर नमूने हैं। वी. सीतारामय्या के 'पंपा यात्रे', कारंत के 'आबुविंद' और 'बरामक्के', मान्वि नरसिंहराव के निबंध इत्यादि प्रवास संबंधी साहित्य के आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

कोश

बच्चों का विश्वकोश बालप्रपंच लिखकर संभवतः भारतीय भाषाओं के साहित्यों के सम्मुख एक नूतन आदर्श उपस्थित करने का श्रेय कन्नड के महान लेखक शिवराम कारंत को मिलना चाहिए। उन्होंने 'ईजगत्त' के नाम से अपने विश्वकोश के प्रथम भाग का प्रकाशन कराया है और अन्य भागों के संपादन कार्य में अब वे निरंतर लगे हुए हैं।

समालोचना

रेवरेंड एफ. किट्टल, बी.एल. राइस तथा ऑर. नरसिंहाचार जैसे विद्वानों ने कन्नड के प्राचीन ग्रंथों का शोध, संपादन तथा प्रकाशन कार्य ही नहीं किया अपितु आधुनिक काव्यविमर्श की भी परंपरा चलाई। अंग्रेजी तथा प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन करके कन्नड में आलोचना साहित्य के लिए निश्चित मार्ग दर्शन करने वालों में डी.वी. गुंडप्पा, मास्ति वेंकटेश अयंगार, ए. आर. कृष्णशास्त्री तथा एम. गोविंद पै मुख्य कहे जा सकते हैं। डी.वी. गुंडप्पा

का जीवन सौंदर्य मतु साहित्य' और 'साहित्यशक्ति', मास्ति का तीन भागों में प्रकाशित 'विमर्शे', ए.ऑर. कृष्ण शास्त्री का 'भाषणगलु मत्तु लेखनगलु', आधुनिक कन्नड के आलोचना साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। डॉ. ए. वेंकटसुब्बय्या तथा एम. गोविंद पै ने अपने शोधपूर्ण निबंधों में कन्नड के प्राचीन कवियों के कालनिर्णय, वस्तुनिरूपण, भाषास्वरूप आदि पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। कन्नड साहित्य परिषद् की छमाही पत्रिका 'परिषत्पत्रिके' तथा मैसूर विश्वविद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध कर्नाटक' में कन्नड के कवि और काव्य पर आलोचनात्मक लेख गत पच्चीस तीस वर्षो से बराबर प्रकाशित होते आ रहे हैं। मैसूर विश्वविद्यालय तथा कन्नड साहित्य परिषद् के तत्त्वावधान में पंप, कुमारव्यास, नागचंद्र, रन्न आदि प्राचीन कवियों पर उत्तम विमर्शात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

साथ ही अन्यान्य साहित्य संघों की ओर से छोटे बड़े आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह निकाले गए हैं। पी. जी. हलकट्टि, आर.आर. दिवाकर, एम. आर. श्रीनिवासमूर्ति जैसे विद्वानों ने क्रमशः 'वचनशास्त्रसार', 'वचनशास्त्ररहस्य', 'वचनधर्मसार', तथा 'भक्ति भंडारि बसवण्ण' नामक ग्रंथों में वीरशैव भक्त कवियों तथा उनकी कृतियों का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुलिय तिम्मप्पया का 'नाडोजपंप', शि.शि. बसवनाल का 'प्रभुलिंगलीले', कुंदणगार का 'हरिहर देव', महादेवियकक, आर.सी. हिरेमठ का 'महाकविराघवांक', के.वी. राघवाचार का 'यशोधरचरित', ए.आर. कृष्णशास्त्री का 'संस्कृत नाटकगलु', 'टी. एन. श्रीकंठय्या का 'भारतीय काव्यमीमांसे और 'काव्यसमीक्षे', कुवेंपु के 'साहित्यविहार' तथा 'तपोनंदन', 'विभूतिपूजे', बेंद्रे का 'साहित्यसंशोधने', गोविंद पै का 'कन्नड साहित्यद प्राचीनते', बेटगेरि का 'कर्नाटक दर्शन', आर.एस. पंचमुखी का 'हरिदास साहित्य', डॉ. कर्कि का 'छंदोविकास', डी.एल. नरसिंहाचार द्वारा संपादित 'शब्दमणिदर्पण', आर. एस.मुगळि का 'कन्नड साहित्यचरित्र' आदि ग्रंथ ऐसे महत्वपूर्ण हैं जिनके अध्ययन से कन्नड भाषा एवं साहित्य की व्यापकता तथा गहराई पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। सन् 1947 में मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से एक 'बृहत अंग्रेजी-कन्नड-कोश' प्रकाशित हुआ। शिवराम कारंत का 'कन्नड अर्थकोश' तथा डी.के भारद्वाज का 'कन्नड-अंग्रेजी-कोश' उल्लेखनीय हैं। कर्नाटक राज्य सरकार तथा भारत सरकार के अनुदान से कन्नड-साहित्य-परिषद् की ओर से एक बृहत कन्नड कोश का संपादन कार्य चल रहा है।

शिशुसाहित्य

आधुनिक कन्नड में शिशु साहित्य के निर्माण के लिए भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। इस दिशा में पहले पहल पंजेमंगेशराव ने 'बाल-साहित्य-मंडल' नामक संस्था की स्थापना करके बालसाहित्य की वृद्धि में योग दिया। कुवेंपु, जी.पी. राजरत्न, दिनकर देसाई, होइसल, देवुडु नरसिंह शास्त्री, आदि अनेक आधुनिक कन्नड के लेखकों ने बच्चों के लिए सुंदर गीत रचकर शिशुसाहित्य को लोकप्रिय बनाया है। कर्नाटक में बच्चों की शिक्षा के लिए शिशुविहार जगह-जगह स्थापित हुए हैं। 'अखिल कर्नाटक मक्कलकूट', 'चिक्कवरकणज' जैसी बच्चों की संस्थाओं के कारण शिशुसाहित्य के सृजन में विशेष प्रोत्साहन मिला है। मक्कल पुस्तक, नम्मपुस्तक कंद, चंदमामा, जैसी बच्चों की मासिक पत्रिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

लोकसाहित्य

कन्नड के लोकगीतों तथा लोककलाओं के अध्ययन का कार्य भी प्रारंभ हुआ है। कर्नाटक में गत 300 वर्षो से अत्यंत लोकप्रिय लोककला 'यक्षगान' पर शिवराम कारंत का लिखा हुआ 'यक्षगान' वयलाट एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिस पर भारत सरकार ने 5,000 रुपए का पुरस्कार प्रदान किया है। मास्ति वेंकटेश अयंगार ने अपने 'पापुलर कल्चर इन कर्नाटक' में कन्नड के लोकसाहित्य का सुंदर परिचय दिया है। ग्रामगीतों के भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें बेंद्रे का 'गरतियरहाडु', एल. गुंडप्पा का 'हल्लियपदगलु', बी.एन. रंगस्वामी तथा गोरूर रामस्वामयंगार का 'हल्लियहाडुगलु', मतिगट्ट कृष्णमूर्ति का 'हल्लियपदगलु', तथा का.रा.कृ. का 'जनपदगीतेगलु' उल्लेखनीय हैं।

विगत 60-70 वर्षो से कन्नड में अध्यात्म, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, शिक्षा, प्राणिशास्त्र, गणित, आरोग्य, वैद्यक, शस्यशास्त्र, कृषि, चित्रकला, संगीतकला आदि विभिन्न विषयों पर ग्रंथनिर्माण का कार्य हुआ है। इधर कुछ वर्षो से हाई स्कूलों तथा कालेजों की पढ़ाई के लिए कन्नड को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न विषयों पर कन्नड में पाठय पुस्तकें भी तैयार की जा रही हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

आधुनिक कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि में कन्नड की पत्रपत्रिकाओं का सहयोग कुछ कम महत्व का नहीं है। मंगलोर के बासेल मिशन के पादरियों को

कन्नड में सर्वप्रथम पत्रिका प्रकाशित करने का श्रेय दिया जाता है। इन पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए सन् 1856 में 'कन्नडवार्तिक' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के प्रचार के साथ-साथ कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों से अनेक पत्रपत्रिकाओं का संपादन प्रारंभ हुआ। मैसूर के एम. वेंकटकृष्णय्या के परिश्रम के फलस्वरूप कन्नड की प्रारंभिक पत्रिकाओं में हितबोधिनी, सुदर्शन, आर्यमतसंजीवनी, कर्नाटक काव्यकलानिधि, सुवासिनी, वाग्भूषण, विवेकोदय, सद्गुरु सद्बोधचंद्रिके, धनुर्धारी, मधुरवाणी, श्रीकृष्णसूक्ति तथा साधवनी के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् 1921 के सर्वेक्षण के अनुसार कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों से कुल 66 पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। आजकल की दैनिक पत्रिकाओं में संयुक्त कर्नाटक, प्रजावाणी, जनवाणी, तमिलनाडु तथा नवभारत मुख्य हैं। प्रजामत, कर्मवीर, जनप्रगति आदि साप्ताहिक पत्र लोकप्रिय हैं। कहानी संबंधी पत्रिकाओं में कतेगार, कथांजलि, कथाकुंज, कोरवंजी तथा मासिक पत्रिकाओं में जीवन, कस्तूरि, जय कर्नाटक आदि उल्लेखनीय हैं।

कन्नड़ साहित्य और समाज

आधुनिक कन्नड के प्रथम तथा द्वितीय उत्थान में राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित हुआ। उसके बाद समाजसुधार तथा दलित जातियों के उद्धार की भावना जोर पकड़ने लगती है। पौराणिक विषयों तथा पात्रों का मानवीकरण एक महत्वपूर्ण विषय है। प्रकृति के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण पूरी तरह से व्यक्त हुआ है। नवीन लेखक के कई महत्वपूर्ण सिद्धांतों में एक आत्माभिव्यंजना है। मनुष्य के व्यक्तित्त्व की महानता तथा उसकी पवित्रता पर सर्वत्र आग्रह दिखाई देता है। लेखकों के लिए यह नया साक्षात्कार था कि साहित्य व्यक्तित्त्व की अभिव्यंजना होकर स्वयं पूर्णता को प्राप्त होता है। गीत और निबंध, उपन्यास और नाटक इत्यादि भी इसी व्यक्तिवाद से अनुप्राणित हुए हैं। यथार्थवादी लेखकों ने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं के झूठे विश्वासों तथा खोखलेपन का पर्दाफाश किया है। प्रगतिशील साहित्यकारों ने प्रधानतया समाज की दुर्व्यवस्था की समस्या को मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया है। रूढ़िवादी लेखक अपने सुप्रतिष्ठित विश्वास के मूल्य में आस्था रखते हैं। लेखकों का एक वर्ग वह है जिसने काव्यात्मक धार्मिक अनुभूतियों की सुंदर व्यंजना की है। ऐसे भी कतिपय लेखक हैं जिनका चरम उद्देश्य सौंदर्यजगत्

में साहसपूर्ण अभियान है। लेखकों की एक आस्तिक धारा भी है जिसमें नीति तथा विचारपूर्ण दार्शनिकता की ध्वनि मुखरित है। इस धारा के लेखकों पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद एवं अरविंद के जीवनदर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस दल की कृतियों में बुद्धिवाद और रहस्यवाद, सौंदर्यवाद और समाजवाद, कर्म और ज्ञान जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों, का समाहार हुआ है। इस प्रकार विविध विचारधारा के लेखकों ने साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से कन्नड भारती को सजाया है। इन विभिन्न विचारधाओं से जिस साहित्यसंगम की सृष्टि हुई है उसके समष्टिरूप में से एक मानवतावादी उज्ज्वल जीवनदर्शन प्रकाशित हुआ है, जिसका कालांतर में व्यापक प्रभाव अवश्य लक्षित होगा।

14

गुजराती साहित्य

गुजराती भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है और इसका विकास शौरसेनी प्राकृत के परवर्ती रूप 'नागर अपभ्रंश' से हुआ है। गुजराती भाषा का क्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के अतिरिक्त महाराष्ट्र का सीमावर्ती प्रदेश तथा राजस्थान का दक्षिण पश्चिमी भाग भी है। सौराष्ट्री तथा कच्छी इसकी अन्य प्रमुख बोलियाँ हैं। हेमचंद्र सूरि ने अपने ग्रंथों में जिस अपभ्रंश का संकेत किया है, उसका परवर्ती रूप 'गुर्जर अपभ्रंश' के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें अनेक साहित्यिक कृतियाँ मिलती हैं। इस अपभ्रंश का क्षेत्र मूलतः गुजरात और पश्चिमी राजस्थान था और इस दृष्टि से पश्चिमी राजस्थानी अथवा मारवाड़ी, गुजराती भाषा से घनिष्ठतया संबद्ध है।

गुजराती साहित्य में दो युग माने जाते हैं–

1. मध्यकालीन युग
2. अर्वाचीन युग

मध्यकालीन साहित्य

गुर्जर या श्वेतांवर अपभ्रंश की कृतियों को गुजराती की आद्य कृतियाँ माना जा सकता है। ये प्रायः जैन कवियों की लोकसाहित्यिक शैली में निबद्ध रचनाएँ हैं। रास, फाग तथा चर्चरी काव्यों का प्रभूत साहित्य हमें उपलब्ध है, जिनमें प्रमुख भरतबाहुबलिरास, रेवंतदास, थूलिभद्दफाग, नेमिनाथचौपाई आदि हैं। इसके

बाद भी 13वीं 14वीं सदी की कुछ गद्य रचनाएँ मिलतीं हैं, जो एक साथ जूनी गुजराती और जूनी राजस्थानी की संक्रांतिकालीन स्थिति का परिचय देती हैं। वस्तुतः 16वीं सदी तक, मीराबाई तक, गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी एक अविभक्त भाषा थी। इनका विपाटन इसी सदी के आसपास शुरू हुआ था।

प्राचीन गुजराती साहित्य का इतिहास विशेष समृद्ध नहीं है। आरंभिक कृतियों में श्रीधर कवि का 'रणमल्लछंद' (1390 ई. ल.) है, जिसमें ईडर के राजा रणमल्ल और गुजरात के मुसलमान शासक के युद्ध का वर्णन है। दूसरी कृति पद्मनाभ कवि का कान्हड़देप्रबन्ध (1456 ई.) है, जिसमें जालौर के राजा कान्हड़दे पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण और युद्ध का वर्णन है। यह काव्य वीररस की सुन्दर रचना है और गुजराती साहित्य के आकर ग्रंथों में परिगणित होता है। इन्हीं दिनों मध्ययुगीन सांस्कृतिक जागरण की लहर गुजरात में भी दौड़ पड़ी थी, जिसके दो प्रमुख प्रतिनिधि नरसी मेहता और भालण कवि हैं। नरसी का समय विवाद्ग्रस्त है, पर अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इनकी कृष्णभक्ति के विषय में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं। नरसी मेहता गुजराती पदसाहित्य के जन्मदाता हैं जिसमें निश्चल भक्तिभावना की अनुपम अभिव्यक्ति पाई जाती है। भालण कवि का समय भी लगभग यही माना जाता है। इन्होंने रामायण, महाभारत और भागवत के पौराणिक इतिवृत्तों को लेकर अनेक काव्य निबद्ध किए और गरबासाहित्य को जन्म दिया। वात्सल्य और शृंगार के चित्रण में भालण सिद्धहस्त माने जाते हैं। पद साहित्य और आख्यान काव्यों की इन दोनों शैलियों ने मध्ययुगीन गुजराती साहित्य को कई कवि प्रदान किए हैं। प्रथम शैली का अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तित्त्व मीराबाई (16वीं सदी) हैं जिन पर नरसी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हिंदी और राजस्थानी की तरह मीराबाई के अनेक सरस पद गुजराती में पाए जाते हैं, जो नरसी के पदों की भाँति ही गुजराती जनता में लोकगीतों की तरह गाए जाते हैं। आख्यान काव्यों की शैली का निर्वाह नागर, केशवदास, मधुसूदन व्यास, गणपति आदि कई कवियों में मिलता है, किंतु इसका चरमपरिपाक प्रेमानंद में दिखाई पड़ता है।

प्रेमानन्द भट्ट (17वीं शती) गुजराती भक्ति साहित्य के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। वे बड़ौदा के नागर ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और संस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। प्रेमानन्द ने रामायण, महाभारत, भागवत और मार्कण्डेयपुराण के कई आख्यानों पर काव्य निबद्ध किए

जिनकी संख्या 50 से ऊपर है। ये गुजराती के सर्वप्रथम नाटककार भी हैं, जिनकी तीन नाट्य कृतियाँ हैं। भावगांभीर्य के साथ-साथ अलंकृत शैली इनकी विशेषता है। इन्हीं के ढंग पर और कवियों ने भी पौराणिक आख्यान लिखे, जिनमें शामल भट्ट के अनेक काव्य, मुकुंद का भक्तमाल, देवीदास का रुक्मिणीहरण, मुरारी का ईश्वर विवाह उल्लेखनीय है। प्रेमानन्द के ही समसामयिक भक्त कवि अखों (17वीं शती) हैं, जो अहमदाबाद के सोनार थे। कबीर की तरह इन्होंने धर्म के मिथ्या पाखंड, जातिप्रथा और वर्णव्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया है। इनके दार्शनिक, भक्तिपरक तथा सुधारवादी दोनों तरह के पद मिलते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि भालण कवि ने एक विशेष काव्यशैली का विकास किया था- गरबा शैली। यह शैली मूलतः नृत्यपरक लोकगीतों से संबद्ध है। इस शैली में 18वीं सदी में देवी-देवताओं से संबद्ध अनेक भक्तिपरक स्तुतिगीत लिखे गए। गरबी कवियों का अलग संप्रदाय ही चल पड़ा, जिसमें ब्राह्मण, भाट, पाटीदार सभी तरह के लोग मिलेंगे। प्रमुख गरबी कवियों में बल्लभ भट्ट, प्रीतमदास, धीरोभक्त, नीरांत भक्त औरभोजा भक्त हैं। इस शैली का चरम परिपाक गरबी सम्राट, दयाराम (1767-1852 ई.) के गीतों में मिलता है। दयाराम शृंगाररसपरक गीति काव्य के सर्वश्रेष्ठ मध्ययुगीन गुजराती कवि हैं, जिन्होंने सरल और सरस शैली में मधुर भावों की अभिव्यंजना की है। गुजराती में इनकी 48 रचनाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत, हिंदी, मराठी, पंजाबी और उर्दू में भी इन्होंने समान रूप से काव्यरचना की हैं।

मध्ययुगीन गुजराती साहित्य के विकास में स्वामीनारायण संप्रदाय का भी काफी हाथ रहा है। इस संप्रदाय के संस्थापक सहजानन्द रामानन्द की शिष्यपरम्परा में आते हैं। कच्छ और गुजरात में इस संप्रदाय के साधुओं का काफी प्रभाव रहा है। दार्शनिक तथ्य, भक्तिभावना और सामाजिक पाखण्ड की भर्त्सना इन साधु कवियों के विषय हैं। इस संप्रदाय के प्रमुख कवि ब्रह्मानन्द हैं जिनके कई ग्रंथ और आठ हजार फुटकर पद मिलते हैं। अन्य कवियों में मुक्तानंद, मंजुकेशानंद और देवानन्द का नाम लिया जा सकता है।

अर्वाचीन साहित्य

वैसे तो जूनी गुजराती में कुछ गद्य कृतियाँ मिलती हैं, पर मध्ययुगीन गुजराती में गद्यशैली का प्रौढ़ विकास नहीं हो पाया था। गुजराती पद्य के विकास में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह ईसाई पादरियों का भी हाथ रहा

है। 19वीं सदी के प्रथम चरण में बाइबिल का गुजराती गद्य में अनुवाद प्रकाशित हुआ और ड्रमंड ने 1808 ई. में गुजराती का सर्वप्रथम व्याकरण लिखा। गुजराती में नई चेतना का प्रादुर्भाव जिन लेखकों में हुआ, उनमें पादरी जर्विस, नर्मदाशंकर, नवलराय तथा भोलानाथ आते हैं। नर्मद या नर्मदाशंकर (1833-1886 ई0) गुजराती मध्यवर्गीय चेतना के अग्रदूत हैं, ठीक वैसे ही जैसे हिंदी में भारतेंदु। समय की दृष्टि से भी ये भारतेंद्रु के समसामयिक थे तथा उन्हीं की तरह सर्वतोमुखी प्रतिभा से समन्वित थे। इनकी गद्यबद्ध आत्मकथा 'मारी हकीकत' पुराने कवियों की संपादित कृतियाँ और आलोचनाएँ, संस्कृत 'शाकुंतल' का गुजराती अनुवाद और अनेक सुधारवादी कविताएँ हैं। आधुनिक गुजराती काव्य को नए साँचे में ढालनेवाले पहले कवि नर्मद ही हैं जिन्होंने नए सांस्कृतिक जागरण, राष्ट्रीय भावना और सुधारवादी उदात्तता को वाणी दी हैं। इनकी वैचारिक काव्यशैली के आगे पुराने भक्त कवि सामान्य दिखाई पड़ते हैं। नर्मद पाश्चात्य काव्यशैली से पूरी तरह परिचित थे। भारतेंदु की तरह ही वे कर्मठ साहित्यिक थे, जिन्होंने अनेक नए कवियों और लेखकों को प्रेरित और संगठित किया। संपादन और आलोचना के क्षेत्र में भी नर्मद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। साथ ही वे गुजराती के प्रथम निबंधकार, नाटककार और आत्मचरित्र लेखक माने जाते हैं। नर्मद के समसामयिक कवि दलपतराम (1820-1898 ई.) की रचनाएँ भी सामाजिक, नीतिपरक तथा राष्ट्रीय विषयों से संबद्ध हैं। सरल, प्रसादगुण-युक्त शैली में अपन काव्य को उपस्थित कर देना दलपतराम की विशेषता है। यद्यपि इनकी शैली नर्मद की अपेक्षा गद्यवत अधिक है, तथापि व्यावहारिकता कहीं अधिक पाई जाती है।

नर्मद और दलपतराम अनेक परवर्ती कवियों के आदर्श रहे हैं। सवितानारायण, मणिलाल द्विवेदी, बालशंकर कंथारिया, कलापी आदि सभी पर इनका प्रभाव मिलेगा। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि काठियावाड़ के ठाकुर सुरसिंह जी गोहेल (1874-1913 ई.) थे, जो 'कलापी' उपनाम से कविता करते थे। ये सच्चे कविहृदय व्यक्ति थे, जिनकी प्रत्येक पंक्ति में अनुभूति की तीव्रता विद्यमान है। उन्मुक्त प्रेम, प्रकृतिवर्णन, तथा स्वच्छंद रोमानी भावना का निसर्ग प्रवाह कलापी की कविता में है। इनका काव्यसंग्रह 'कलापी नो केकारव' है। शैली तथा छंदोविधान के क्षेत्र में ये नए प्रयोगों के जन्मदाता हैं। गुजराती में इन्होंने अनेक 'गजले' भी लिखी हैं, जो 'गजलिस्तान' नामक संग्रह में संकलित हैं। श्री कंथारिया ने फारसी कवि हाफिज की गजलों का गुजराती काव्यानुवाद

प्रस्तुत किया है तथा अन्य मुक्तक रचनाएँ भी लिखी हैं। गुजराती काव्य को परंपरावादी प्रवृत्तियों से मुक्त कर स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करने में इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजराती के परवर्ती रोमैंटिक कवियों में नरसिंहराव दिबेटिया, फरदुनजी मरजबान, रामजी मेरबानजी मलबारी, हरिलाल ध्रुव तथा फ्रामजी खबरदार प्रमुख हैं। इनमें श्री दिवेटिया कवि के अतिरिक्त गुजराती साहित्य के अधिकरी विद्वान भी थे और इन्होंने 'गुजराती भाषा और साहित्य' पर बंबई विश्वविद्यालय में विल्सन फाइलॉलॅजिकल व्याख्यान दिए थे। कविता के क्षेत्र में ये अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों से विशेष प्रभावित हैं। खबरदारजी की कविताओं में प्रधानतः देशभक्ति और दार्शनिक विषयों की ओर झुकाव मिलता है।

रोमैंटिक काव्यधारा का विकास बलवंतराय, दामोदर खुशालदास बोरादकर, मणिशंकर रतनजी भट्ट तथा नानालाल में मिलता है। ये सभी कवि पाश्चात्य काव्यशैली से प्रभावित हैं। इन कवियों में नाना लाल अग्रगण्य हैं, जो गुजराती कवि दलपतराम के पुत्र थे। कवि तथा नाटककार दोनों रूपों में इन्होंने विशिष्ट ख्याति अर्जित की है। प्रबंध काव्य, खंड काव्य तथा मुक्तक काव्य तीनों शैलियों में इनकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख 'कुरु क्षेत्र' महाकाव्य है। गुजराती में मुक्त छंद के सर्वप्रथम प्रयोक्ता भी ये ही हैं। नव्य गुजराती कविता पर समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिवर्तनों का काफी प्रभाव पड़ा है। गांधीवादी कवियों में सर्वश्रेष्ठ ब. क. ठाकुर हैं, जिन्होंने नए विषयों के प्रयोग के साथ साथ अतुकांत छंद की तरह प्रवाही पद्य का प्रयोग तथा व्यावहारिक भाषा का उपयोग किया है। इन्होंने गुजराती में कई सॉनेट (चतुर्दशपदियाँ) भी लिखे हैं। ठाकुर का प्रभाव उमाशंकर जोशी, रामानरायण पाठक, कृष्णलाल श्रीधराणी आदि कवियों पर मिलेगा। आधुनिक गुजराती कवियों पर एक ओर साम्यवादी विचारधारा का और दूसरी ओर बिंबवादी कवियों का प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवादी ढंग के गुजराती कवियों में राजेंद्र शाह और दिनेश कोठारी प्रमुख हैं, जिन्होंने भाषा, छंद और काव्य के साथ नए प्रयोग किए हैं।

गुजराती नाटक साहित्य विशेष समृद्ध नहीं है। नर्मदाशंकर ने 'शाकुंतल' का अनुवाद किया था और रणछोड़ भाई ने कुछ संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का। रणछोड़ भाई ने कई मौलिक पौराणिक तथा सामाजिक नाटक भी लिखे। अन्य परवर्ती नाटककारों में दलपतराम, नवलराय, नानालाल तथा सर रमणभाई आते हैं। सामाजिक कथावस्तु को लेकर लिखने वाले आधुनिक नाटककार कन्हैयालाल

माणिकलाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता और धनसुखलाल मेहता हैं। इधर श्रीधराणी, उमाशंकर जोशी तथा बटुभाई उमरवाडिया ने एकांकी भी लिखे हैं।

यही स्थिति गुजराती निबंध साहित्य की भी है। पहले निबंधलेखक नर्मद हैं। नर्मद के समय ही गुजराती पत्रकारिता का उदय हुआ था और नवलराय ने 'गुजरात शाळापत्र' का प्रकाशन आरंभ किया। इन्होंने समालोचना और निबंध के क्षेत्र में भी काफी काम किया। विवेचनात्मक तथा व्यक्तिव्यंजक दोनों तरह के निबंध लिखे जाने लगे पर गुणात्मक प्रौढ़ि की दृष्टि से केवल आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव, नरसिंह राव दिवेटिया, काका कालेलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, रामनारायण पाठक, केशवलाल कामदार और उमाशंकर जोशी की ही कृतियों का संकेत किया जा सकता है। आलोचनात्मक लेखों के क्षेत्र में केशवलाल ध्रुव, मनसुखलाल झावेरी, उमाशंकर जोशी तथा डॉ. भोगीलाल सांडेसरा ने महत्वपूर्ण योग दिया हैं। संस्मरण तथा रेखाचित्र के गुजराती लेखकों में मुंशी तथा उनकी पत्नी लीलावती मुंशी, गांधीवादी विचारक काका कालेलकर और गांधीजी के अनन्य सहयोगी महादेव भाई की परिगणना की जाती है।

गुजराती कथा साहित्य अपेक्षाकृत विशेष समृद्ध है। उपन्यास साहित्य का प्रारंभ श्री नंदशंकर तुलजाशंकर के उपन्यास 'करणघेलो' (1868 ई.) से होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की जो परंपरा महीपतराम, अनंतराम त्रीकमलाल और चुन्नीलाल वर्धमान ने स्थापित की, उसका चरम परिपाक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। पृथ्वीवल्लभ, जय सोमनाथ, गुजरात नो नाथ, पाटण नी प्रभुत्व, भगवान परशुराम, लोपामुद्रा, भगवान कौटिल्य उनकी प्रशस्त कृतियाँ हैं। इनके पूर्व इस क्षेत्र में इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने भी काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी, जिनका स्पष्ट प्रभाव मुंशी जी पर दिखाई पड़ता है। मुंशीजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में रमणलाल देसाई का विशेष स्थान है। राष्ट्रीय आंदोलन से संबंद्ध इनके दो उपन्यास 'दिव्यचक्षु' और 'भारेला अग्नि' तथा भारतीय ग्रामीण जीवन की समस्याओं से संबंद्ध, चार भागों में प्रकाशित महती कृति 'ग्रामलक्ष्मीकोण' ने काफी ख्याति प्राप्त की है। गुजरात के लोकजीवन और लोकसाहित्य को उपन्यासों के साँचे में ढालने का स्तुत्य प्रयास झवेरचंद मेघाणी ने किया, जो गुजराती लोकसाहित्य के विशेषज्ञ भी थे। अन्य सामाजिक उपन्यास लेखकों में गोवर्धनराम त्रिपाठी, पन्नालाल पटेल और धूमकेतु ने विशेष ख्याति अर्जित की है। श्री त्रिपाठी तथा अन्य दोनों लेखकों पर

यथार्थवादी उपन्यासकला का प्रभाव भी मिलेगा। कथासाहित्य के दूसरे अंश कहानी 'गोवालणी' के प्रकाशन से माना जाता है। इसके बाद तो विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, अमृतलाल पंढियार और चंद्रशंकर पंड्या की कई कहानियाँ प्रकाशित हुई। आधुनिक कहानी लेखकों में मुंशी, रमणलाल देसाई, गुणवंतराय आचार्य, धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर विशेष प्रसिद्ध है। धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर ने कहानी की तकनीक को अत्याधुनिक बनाया है। आज का गुजराती कथा साहित्य और काव्य विशेष रूप से भारतीय समाज के सभी पहलुओं का अंकन कर भारतीय युगचेतना को वाणी देने में अपना समुचित योग दे रहा है।

15

आदिवासी साहित्य

आदिवासी साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से है जिसमें आदिवासियों का जीवन और समाज उनके दर्शन के अनुरूप अभिव्यक्त हुआ है। आदिवासी साहित्य को विभिन्न नामों से पूरी दुनिया में जाना जाता है। यूरोप और अमेरिका में इसे नेटिव अमेरिकन लिटरेचर, कलर्ड लिटरेचर, स्लेव लिटरेचर और अफ्रीकन-अमेरिकन लिटरेचर, अफ्रीकन देशों में ब्लैक लिटरेचर और ऑस्ट्रेलिया में एबोरिजिनल लिटरेचर, तो अंग्रेजी में इंडीजिनस लिटरेचर, फर्स्टपीपुल लिटरेचर और ट्राइबल लिटरेचर कहते हैं। भारत में इसे हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में सामान्यत: 'आदिवासी साहित्य' ही कहा जाता है।

आदिवासी साहित्य की उपलब्धता

गैर-आदिवासी साहित्य की अध्ययन परंपरा आदिवासी साहित्य को दो श्रेणी में विभाजित करती है -

- वाचिक परंपरा का आदिवासी (लोक) साहित्य
- लिखित (शिष्ट अथवा आधुनिक) आदिवासी साहित्य
- ऑरेचर

लेकिन आदिवासी साहित्यकार इस विभाजन को स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि चूंकि उनका जीवनदर्शन किसी भी विभाजन के पक्ष में नहीं है, उनके समाज में समरूपता और समानता है, इसलिए उनका साहित्य भी

विभाजित नहीं है। वह एक ही है। वे अपने साहित्य को 'ऑरेचर' कहते हैं। ऑरेचर अर्थात् ऑरल + लिटरेचर। उनकी स्थापना है कि उनके आज का लिखित साहित्य भी उनकी वाचिक यानी पुरखा साहित्य की परंपरा का ही साहित्य है। ऑरेचर की अवधारणा सबसे पहले युगांडा के आदिवासी लेखक पियो जिरिमू ने प्रस्तुत की थी जिसे दुनिया के अधिकांश आदिवासी लेखकों और साहित्यकारों ने स्वीकार किया। इनमें अफ्रीका के न्गूगी वा थ्योंगो और भारत की वंदना टेटे प्रमुख हैं। हालांकि गैर-आदिवासी साहित्यिक और अकादमिक जगत में अभी भी वाचिक साहित्य की स्वीकार्यता ज्यादा है।

आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीन तरह के मत हैं-

1. आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।
2. आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।
3. 'आदिवासियत' (आदिवासी दर्शन) के तत्त्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है।

पहली अवधारणा गैर-आदिवासी लेखकों की है। परंतु समर्थन में कुछ आदिवासी लेखक भी हैं। जैसे, रमणिका गुप्ता, संजीव, राकेश कुमार सिंह, महुआ माजी, बजरंग तिवारी, गणेश देवी आदि गैर-आदिवासी लेखक, और हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, आईवी हांसदा आदि आदिवासी लेखक।

दूसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों और साहित्यकारों की है, जो जन्मना और स्वानुभूति के आधार पर आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानते हैं।

अंतिम और तीसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों की है, जो 'आदिवासियत' के तत्त्वों का निर्वाह करने वाले साहित्य को ही आदिवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसे लेखकों और साहित्यकारों के भारतीय आदिवासी समूह ने 2014 में रांची (झारखंड) में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय सेमिनार में इस अवधारणा को ठोस रूप में प्रस्तुत किया, जिसे 'आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा-पत्र' के तौर पर जाना जा रहा है और अब जो आदिवासी साहित्य विमर्श का केन्द्रीय बिंदु बन गया है।

'आदिवासियों के आदिवासियत को न तो आप वर्गीकृत कर सकते हैं न ही किसी मानक से नाप सकते हैं क्योंकि यह तो विरासत में मिला हुआ वह

गुण है जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और न ही इसे कोई खारिज कर सकता है। किसी व्यक्ति की आदिवासियत को आप इस बात से भी नहीं तय कर सकते हैं कि उसमें आदिवासी खून कितना है।'

– अनिता हेइस (सिडनी), रीड-गिल्बर्ट, केरी संपादित पुस्तक 'व्हाइ डज ए ब्लैक वूमेन राइट?' (2000) में शामिल 'द स्ट्रेंथ ऑफ अस ऐज वूमेन: ब्लैक वूमेन स्पीक' लेख (पृ. 51) में

आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा-पत्र

आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है जिसके मूल तत्त्व हैं –

- प्रकृति की लय-ताल और संगीत का जो अनुसरण करता हो।
- जो प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और गरिमा का सम्मान करता हो।
- जिसमें पुरखा-पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार हो।
- जो समूचे जीव जगत की अवहेलना नहीं करें।
- जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करता हो।
- जिसमें जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा हो।
- जिसमें सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हो।
- जो धरती को संसाधन की बजाय माँ मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता हो।
- जिसमें रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह न हो।
- जो हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ हो।
- जो भाषाई और सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के अधिकार पक्ष में हो।
- जो सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, प्रतीकों, मिथकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से असहमत हो।
- जो सहअस्तित्त्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचाव-बचाव में यकीन करता हो।
- सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति जिसका प्रबल स्वर-संगीत हो।

मूल आदिवासी भाषाओं में अपने विश्व दृष्टिकोण के साथ जो प्रमुखतः अभिव्यक्त हुआ हो।

आदिवासी साहित्य का भाषाई मानचित्र

आदिवासी साहित्य वाचिक तौर पर अपनी मूल आदिवासी भाषाओं में बहुत समृद्ध और विपुल है। भारत में लिखित आदिवासी साहित्य की शुरुआत बीसवीं सदी के आरंभिक दौर में होती है जब औपनिवेशिक दिनों में आदिवासी समुदाय आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आते हैं। विशेषकर, झारखंड और उत्तर-पूर्व के आदिवासी इलाकों में। तब से लेकर आज तक अंग्रेजी और हिंदी, बांग्ला, ओड़िया, असमी, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में आदिवासी साहित्य लेखन निरंतर प्रगति पर है और हर वर्ष सौ से अधिक आदिवासी रचित पुस्तकें विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो रहा है।

भारत में आदिवासी साहित्य पांच भाषा परिवार की भाषाओं में वाचिक और लिखित रूप में उपलब्ध है –

आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार

चीनी-तिब्बती भाषा परिवार

द्रविड़ भाषा परिवार

अंडमानी भाषा परिवार

भारोपीय आर्य भाषा परिवार

आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार

यह आदिवासी भाषा परिवार मुख्य रूप से भारत में झारखंड, छत्तीसगढ, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के ज्यादातर हिस्सों में बोली जाती है। संख्या की दृष्टि से इस परिवार की सबसे बड़ी भाषा संथाली या संताली है। इस परिवार की अन्य प्रमुख भाषाओं में हो, मुंडारी, खड़िया, सावरा इत्यादि प्रमुख भाषाएं हैं।

चीनी-तिब्बती भाषा परिवार

इस परिवार की ज्यादातर भाषाएं भारत के सात उत्तर-पूर्वी राज्यों में बोली जाती है। जिनमें नगा, मिजो, म्हार, मणिपुरी, तांगखुल, खासी, दफला, आओ आदि भाषाएं प्रमुख हैं।

द्रविड़ भाषा परिवार

यह भाषा परिवार भारत का दूसरा सबसे बड़ा भाषायी परिवार है। इस परिवार की सदस्य गैर-आदिवासी भाषाएं ज्यादातर दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। जिसमें तमिल, कन्नड़, मलयालम और तेलुगू भाषाएं हैं। परंतु द्रविड़ परिवार की आदिवासी भाषाएं पूर्वी, मध्य और दक्षिण तक के राज्यों में बोली जाती हैं। गोंडों की गोंडी, उरांव, किसान और धांगर समुदायों की कुडुख और पहाड़िया की मल्तो या मालतो द्रविड़ परिवार की प्रमुख आदिवासी भाषाएं हैं।

अंडमानी भाषा परिवार

जनसंख्या की दृष्टि से यह भारत का सबसे छोटा आदिवासी भाषाई परिवार है। इसके अंतर्गत अंडबार-निकाबोर द्वीप समूह की भाषाएं आती हैं, जिनमें अंडमानी, ग्रेड अंडमानी, ओंगे, जारवा आदि प्रमुख हैं।

भारोपीय आर्य भाषा परिवार

भारत की दो तिहाई से अधिक गैर-आदिवासी आबादी हिन्द आर्य भाषा परिवार की कोई न कोई भाषा विभिन्न स्तरों पर प्रयोग करती है। जैसे, संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, गुजराती, कश्मीरी, डोगरी, पंजाबी, उड़िया, असमिया, मैथिली, भोजपुरी, मारवाड़ी, गढ़वाली, कोंकणी आदि भाषाएं। परंतु राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश आदि राज्यों के भीलों की वर्तमान भीली, भिलाला और वागड़ी, इसी भारोपीय भाषा परिवार के अंतर्गत आती है।

भारत के प्रमुख आदिवासी साहित्यकार

मेन्नस ओड़ेअ
सुशीला सामद
जयपाल सिंह मुंडा
रघुनाथ मुर्मू
लको बोदरा
प्यारा केरकेट्टा
एलिस एक्का
कानूराम देवगम
आयता उरांव

तेमसुला आओ
ममांग दई
राम दयाल मुंडा
बलदेव मुंडा
रोज केरकेट्टा
दुलाय चंद्र मुंडा
पीटर पॉल एक्का
वाल्टर भेंगरा 'तरुण'
नारायण
हरिराम मीणा
महादेव टोप्पो
वाहरू सोनवणे
ग्रेस कुजूर
उज्ज्वला ज्योति तिग्गा
निर्मला पुतुल
काजल डेमटा
सुनील कुमार 'सुमन'
केदार प्रसाद मीणा
जोराम यालाम नाबाम
वंदना टेटे
सुनील मिंज
ग्लैडसन डुंगडुंग
अनुज लुगुन
रूपलाल बेदिया
गंगा सहाय मीणा
ज्योति लकड़ा
नीतिशा खालखो
अनु सुमन बड़ा
हीरा मीणा
अरुण कुमार उरांव

16

भारतीय लिपियाँ

भारत में बहुत सी भाषाएं तो हैं ही, उनके लिखने के लिये भी अलग-अलग लिपियाँ प्रयोग की जातीं हैं। किन्तु इन सभी लिपियों में बहुत ही साम्य है। ये सभी वर्णमालाएँ एक अत्यन्त तर्कपूर्ण ध्वन्यात्मक क्रम में व्यवस्थित हैं। यह क्रम इतना तर्कपूर्ण है कि अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक संघ ने अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि के निर्माण के लिये मामूली परिवर्तनों के साथ इसी क्रम को अंगीकार कर लिया।

भारत में लिपि का उद्‌भव और विकास

प्राचीन भारत की दो लिपियों में 'खरोष्ठी' दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी और ब्राह्मी बाएँ से दाएँ। प्राय: यहाँ के पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेशों (पंजाब, कश्मीर) में ही प्राचीन काल में खरोष्ठी का प्रचार था। दूसरी लिपि 'ब्राह्मी' का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। भारतीयों की परंपरागत मान्यता के अनुसार संस्कृत भाषा (ब्राह्मी या भारती) और ब्राह्मीलिपि का प्रवर्तन सृष्टिकर्ता 'ब्रह्मा' द्वारा आरंभिक युग में हुआ। कदाचित् इस कल्पना या मान्यता का आधार 'ब्राह्मी' नाम है। 'ब्राह्मी तु भारतीय भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' द्वारा 'अमरकोश' ने 'ब्राह्मी' पद के अर्थबोध की व्यापक दृष्टि का संकेत किया है। यह शब्द 'सरस्वती' का भी और 'भाषा' (मुख्यत: संस्कृत भाषा) का भी अभिधान है। पर इन पौराणिक और

परंपरागत सिद्धांतों में पूर्व और पश्चिम के आधुनिक इतिहासवेत्ता आस्था नहीं रखते।

'वेद' या 'वैदिक वाङ्मय' के लिए प्रचलित 'श्रुति' शब्द के आधार पर अनेक पाश्चात्य पंडितों ने सिद्धांत निकाला है कि 'दशोपनिषत्काल' तक निश्चय ही भारत में लेखनविद्या या लिपिकला का अभाव था। वैदिक वाङ्मय का अध्यापन गुरु शिष्य की मुख परंपरा और स्रवण परंपरा से होता था। लिपि का अभाव ही उसका मुख्य कारण था। 'पाणिनि' को ई.पू. चतुर्थ शताब्दी का माननेवाले 'मैक्समूलर' के मत से उस समय तक लिपि का अभाव था। 'बर्नेल' के अनुसार (अशोक) लिपि का उद्भव फिनीशियावासियों से लिखना सीखने के बाद उन्हीं की लिपि से हुआ। यूरोप की भी प्राय: अधिकांश लिपियाँ उसी लिपि से विकसित मानी गई हैं। भारत में इसका प्रवेश ई.पू. 500 से 400 तक के बीच हुआ। उक्त मत से असहमति प्रकट करते हुए 'बूलर' का कहना है कि भारत में प्राचीन लिपि का विकास 'सामी' (सेमिटिक) लिपि से हुआ है, जिसके अक्षरों का प्रवेश ई.पू. 800 के आस पास (संभवत:) हुआ था। ई.पू. 500 के लगभग अथवा उससे भी पूर्व भारतीयों द्वारा ब्राह्मी के विकास और निर्माण का कार्य बड़े श्रम से संपन्न हो गया था। 'बूलर' ने लिपि-विद्या-संबंधी ग्रंथ में कहा है कि कुछ नव्यतम प्रमाणों के आधार पर भारत में लिपि के प्रवेश का समय ई.पू. 10वीं शती या उससे भी पूर्व स्थिर किया जा सकता है।

अशोक के शिलास्तंभ अभिलेखों से स्पष्ट है कि ई.पू. चतुर्थ शताब्दी तक लिपिकला भारत में काफी विकसित हो चुकी थी। पिपरावा, बडली, सोहगौरा, महस्थान आदि में उपलब्ध अशोकपूर्वयुगीन लघु लेखों के आधार पर भारत में लिपि प्रयोग का कार्य ई.पू. 5वीं शती के पूर्वार्ध तक चला जाता है। प्राचीन यूनानी यात्री लेखकों के अनुसार कागज की और ई.पू. चतुर्थ शती में भारत को लेखन कला की अच्छी जानकारी थी। बौद्ध वाङ्मय के आधार पर ई.पू. 400 या उसके भी पहले ई.पू. छठीं शती तक उस जानकारी की बात प्रमाणित है। स्वयं 'पाणिनि' के धातुपाठ में 'लिपि' और 'लिबि' धातु हैं। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अनेक शास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'पाणिनि' और 'यास्क' से भी अनेक शताब्दी पूर्व भारत में अनेक लिखित ग्रंथ थे और लेखन कला का प्रयोग भी होता था। बूलर, 'बॉटलिक' और 'रॉथ' ने भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारत में लिपिकला की प्राचीनता स्वीकार की है। कोलब्रुक

कनिंघम, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि भी भारत में लेखनकला का व्यवहार 'बुद्ध से अनेक शताब्दी पूर्व' मानते हैं।

ब्राह्मी की उत्पत्ति

ब्राह्मी की उत्पत्ति को विद्वानों का एक वर्ग अभारतीय मानता है। दूसरा वर्ग भारतीय।

1. डिके असीरीयाई कीलाक्षरों से संबंद्ध 'सामी' से,
2. 'कुपेरी' चीनी लिपि से,
3. डॉ. साहा आदि 'अरबी लिपि' से
4. 'सेनार्ट', 'विल्सन' आदि ग्रीक लिपि से,
5. बूलर, बेवरर, टेलर आदि व्यापारियों द्वारा उनकी 'मेसोपोटामिया' और 'आरमयिक' लिपियों से इसका संबंध बताते हैं। ग्रीक का भी इसी से संबंध है। अत: विलियम और बेवर के मत भी इसी पक्ष के पोषक हैं।

दूसरे वर्ग के लोग इसका विकास स्वतंत्र रूप में भारतीय सीमा के भीतर ही मानते हैं। इधर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से उपलब्ध मुद्राओं के लेखखंडों के आधार पर सिंधुघाटी सभ्यता की लिपि से 'ब्राह्मी' की उत्पत्ति बताते हैं। कुछ साहसिक विद्वानों ने सुमेरी, सिंधुघाटी और वैदिक आर्य- तीनों सभ्यताओं को एक मूल स्रोत से विकसित मानकर किसी एक लिपि से अथवा प्राचीनतम सुमेरी लिपि से ब्राह्मी के उद्‌भव का अनुमान किया है। पर यह मत अभी गंभीरता: विचारणीय है। सिंधुघाटी की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों से विचित्र और भिन्न लगती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अधिकांश भारतीय पंडितों के मतानुसार 'देवनागरी' का विकास उस 'ब्राह्मी' से हुआ है, जो ई.पू. हजारों वर्षों से भारत में प्रचलित थी और जिसका विकास स्वयं भारत में और भारतीयों द्वारा हुआ था।

भारतीय लिपियों का साम्य

लगभग सभी लिपियाँ ब्राह्मी लिपि से व्युत्पन्न हैं।
सभी के वर्णों के नाम, क्रम, उच्चारण आदि समान हैं।
सभी ध्वन्यात्मक हैं एवं कवर्ग, चवर्ग आदि में बंटे हैं।
सभी के लिखने में मात्र का प्रयोग होता है।
सबमें संयुक्ताक्षरों का प्रयोग होता है।

सबके वर्ण रूप में काफी मिलते हैं।
सबमें स्वर, व्यंजन, मात्र का कांसेप्ट है।
सबमें वर्णों की संख्या लगभग समान है।

भारतीय लिपियों की विशेषता

वर्णात्मक चिह्नावली

भारतीय भाषाओं में संगणक पर कार्य करने के लिये उनकी लिपियों की बुनियादी समझ आवश्यक है। वर्णमाला में दो प्रकार के वर्ण होते हैं – स्वर व व्यंजन। व्यंजन वे वर्ण हैं जिन्हें एक अकेली इकाई के रूप में बिना स्वर की सहायता से उच्चारित नहीं किया जा सकता, जबकि स्वरों का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से या व्यंजन के साथ जोड़कर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि हम 'क' वर्ण का अकेले उच्चारण करें तो उसमें व्यंजन ध्वनि 'क' के साथ स्वर ध्वनि 'अ' अवश्य होगी। जबकि स्वर ध्वनि 'अ' का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। बोलते समय हम वाक्य या शब्द में आनेवाली ध्वनियों को शृंखला रूप में उच्चारित करते हैं। इन उच्चारित ध्वनियों को यदि हम व्यंजन व स्वर वर्णों की सहायता से क्रमबद्ध तरीके से लिखें तो हिन्दी शब्द 'कमला' कुछ इस प्रकार से लिखा जाएगा–

क् + अ + म् + अ + ल् + आ

यहाँ पर, प्रत्येक व्यंजन एवं स्वर को अलग-अलग लिखा गया है। इस लिखने के तरीके में विशेषता यह है कि इसमें वर्णाक्षर व्यंजन और स्वर उच्चारण क्रम के अनुसार लिखे गये हैं।

जब शब्द में उच्चारित ध्वनियों को वर्णों द्वारा उच्चारण क्रम में लिखा जाता है तब इस पद्धति को वर्णात्मक चिह्नावली कहते हैं।

वर्णात्मक चिह्नावली समझने में सरल होती है तथा भाषा को लिपिबद्ध करने की दिशा में इसे पहला स्वाभाविक कदम माना जा सकता है। यह टंकण के लिये भी उपयुक्त है। किन्तु इसकी कमी यह है कि इसमें लिखना ज्यादा पड़ता है जिसके कारण समय और कागज दोनों ही का ज्यादा खर्च होता है। अंग्रेजी की रोमन लिपि एक वर्णात्मक चिह्नावली है। अंग्रेजी में 'कमला' ध्वनिक्रम इस प्रकार लिखा जाएगा–

ा ं उ ं स ं

(अंग्रेजी में वर्ण व ध्वनि में अभेद संबंध न होने से, जो कठिनाइयाँ आती है, वह एक पृथक विषय है। चूंकि उसका संबंध वर्णात्मक चिह्नावली से नहीं है अतः उस पर हम यहाँ चर्चा नहीं करेंगे।)

अक्षरात्मक चिह्नावली

वर्णात्मक चिह्नावली की उपरोक्त कमियों को दूर करने के लिये भारतीय भाषाओं में अक्षरात्मक चिह्नावली का विकास किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक स्वरान्त के लिये एक चिह्न का उपयोग होता है जिसे अक्षर कहते हैं। स्वरान्त से अर्थ है शून्य, एक या उससे अधिक व्यंजनों के बाद स्वर से मिल कर बनने वाला वर्ण-क्रम। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित वर्ण-क्रम स्वरांत हैं–

0 + अ = अ

क् + अ = क

ख् + य् + अ = ख्य

शब्द के अन्त में, अन्तिम व्यंजनों के क्रम में स्वर न होने पर भी उसे अक्षर के रूप में लिख सकते हैं, उदाहरणार्थ हिन्दी में प्रायः शब्द के अन्तिम व्यंजन के स्वर का उच्चारण नहीं होता, परन्तु लिखित रूप में वहाँ पूर्णाक्षर का प्रयोग होता है। जैसे : कमल।

अतः, अक्षर एक या अधिक वर्णों को प्रदर्शित करता है।

अक्षर की संरचना में एक अहम् बात यह है कि अक्षर का आकार व्यंजन व स्वरों की मात्राओं के आकार से मिलकर बनता है (क़ई=की)। अतः इन्हें सीखना आसान है। (कुछ विशेष अक्षरों को छोड़कर, जैसे 'क्ष')। वर्णात्मक व अक्षरात्मक चिह्नावली के कुछ सरल उदाहरण हैं–

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली

क् + अ = क

म् + अ = म

इसमें मुख्य बात यह है कि व्यंजन के साथ 'अ' स्वर को जोड़ कर एक 'सरल' अक्षर बना दिया गया। उदाहरणार्थ : यहाँ 'क' प्रतीक है एक सरल अक्षर का जो 'क' व्यंजन व अकारान्त स्वर के मिलने से बना है (क् + अ = क)। इस चिह्नावली के अन्तर्गत व्यंजनों में स्वरों के योजन के लिये मात्रओं का

विकास हुआ। यदि व्यंजन के बाद 'अ' के अतिरिक्त कोई अन्य स्वर आता है तो अक्षर पर एक छोटा सा विशेष चिह्न लगा दिया जाता है, जो उस स्वर का द्योतक है। इसी चिह्न को उस स्वर की मात्र कहते हैं, जैसे 'उ' की मात्रा 'उ', 'ए' की मात्रा 'ए', 'इ' की मात्र 'इ' इत्यादि। जब व्यंजन के बाद 'अ' स्वर आता है तो किसी भी अतिरिक्त निशान की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ,

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली

(मात्रा अलग से प्रदर्शित)

की: क् + ई = क + ई

कु: क् + उ = क + उ

क: क् + अ = क

कई: क् + अ + ई = क + ई

उपरोक्त में 'की' व 'कई' के अन्तर पर गौर कीजिए। 'की' में 'क' पर 'ई' स्वर की मात्रा है जबकि 'कई' में 'क' और 'ई' अक्षर क्रमबद्ध रूप में हैं। अत:, मात्राओं को अक्षर पर अंकित किया जाता है चाहे अक्षर सरल हो या संयुक्त। हर मात्रा को लगाने के लिये विशिष्ट स्थान हैं, जो कि अक्षर के चारों ओर हैं।

अक्षर के बायीं ओर 'इ' की मात्रा आती है, इसी प्रकार से 'ए' व 'ऐ' मात्राएँ ऊपर आती हैं, 'उ' व 'ऊ' नीचे तथा अन्य दायीं ओर। यह तरीका, हस्त-लेखन के लिये अति लाभप्रद है। परंतु टंकण की दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ आती हैं, जिनका उल्लेख हम बाद में करेंगे। इतना करने से लिखना बहुत सरल व संक्षिप्त हो जाता है। हाँ, सीखने की दृष्टि से थोडी सी मेहनत ज्यादा है, चूंकि अब मात्राओं को भी सीखना पड़ता है।

(संयुक्ताक्षरों के प्रयोग से लिपि और अधिक संक्षिप्त हो जाती है, परन्तु साथ ही उनको भी अलग चिह्नों के रूप में सीखना पड़ता है।)

इस आविष्कार का एक परिणाम यह है कि एक सरल अक्षर में 'अ' की अनुपस्थिति प्रदर्शित करने के लिये एक विशेष मात्रा लगानी पड़ती है, जिसे हम हलन्त कहते है। उदाहरणार्थ, 'क्या' शब्द में 'क' अक्षर पर हलन्त लगाना पड़ता है–

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली

(मात्रा अलग से प्रदर्शित)

क्या: क् + य् + आ = क + ऋ + य + आ

संयुक्ताक्षर

दूसरी मुख्य बात यह है कि जब किसी शब्द में व्यंजन एक के बाद एक आते हैं तब उन्हें एक साथ जोड़कर लिखा जाता है जिसे संयुक्ताक्षर भी कहते है। आगे आनेवाले स्वर के अनुरूप मात्र इसी संयुक्ताक्षर पर लगती है। उदाहरणार्थ, 'क्या' शब्द में शुद्ध व्यंजन 'क' तथा अक्षर 'य' है जिन्हें क्रम से जोड़कर 'क्य' संयुक्ताक्षर बनाया जाता है। तत्पश्चात साधारण नियम के अनुसार उस पर 'आ' की मात्रा लगाई जाती है।

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली
(संयुक्ताक्षर सहित)

क्या– क् + य् + आ = क्य् + आ = क्य + आ

ऐतिहासिक दृष्टि से इस तरह की यौगिक चिह्नावली, एक क्रान्ति से कम नहीं है। यही हमारी परिचित आधुनिक लिपि है।

संयुक्ताक्षर व मात्राएँ

अक्षरात्मक चिह्नावली में मात्र लगाने का नियम सरल व संयुक्त दोनों ही प्रकार के अक्षरों पर एक समान लागू होता है। मतलब यह है कि अक्षर चाहे सरल (उदाहरण के लिए 'क') हो या संयुक्त (उदाहरण के लिए 'स्म'), मात्रा ऊपर दिए गए नियमानुसार ही लगेगी। यानि 'इ' की मात्रा नियमानुसार बायीं ओर लगती है तो वह दोनो प्रकार के अक्षरों में बायीं ओर ही लगेगी, जैसे– क़इ=क़इ=कि। और यही नियम संयुक्ताक्षर पर भी लागू होता है, जिस कारणवश 'इ' की मात्रा संयुक्ताक्षर के बायीं ओर लिखी जाएगी। नीचे दिये संस्कृत शब्द 'तस्मिन' में संयुक्ताक्षर 'स्मि' पर ध्यान दीजिये–

तस्मिन् :

= त् + अ + स् + म् + इ + न् (वर्णात्मक चिह्नावली)

= त + स्म + इ + न् (अक्षरात्मक चिह्नावली – मात्र अलग से)

= त + स्मि + न् (अक्षरात्मक चिह्नावली)

'इ' मात्र 'म' के बायीं ओर न होकर, संयुक्ताक्षर 'स्म' के बायीं ओर लगती है, जो नियमानुसार है। (इस नियम को ठीक से न समझने के कारण कहीं कहीं पर यह पढने को मिलता है कि हमारी भाषाओं की लिपियाँ नियमानुसार नहीँ हैं। यह बात सही नहीं है, तथा अज्ञानतावश कही जाती है।)

मात्राएँ लगाने के नियम के अन्तर्गत प्रत्येक अक्षर को एक चिह्नात्मक इकाई के रूप में लिया जाता है। अक्षर अपने आप में स्वर के बिना अधूरा है। सरल अक्षर मात्रा एक स्वर का (अ), अथवा एक व्यंजन + एक स्वर का योग (D+v) होता है और संयुक्ताक्षर एक से अधिक व्यंजन व एक स्वर (L+E+v) का योग होता है।

(i) मात्राओं को लगाने का नियम

हर मात्रा को अक्षर पर लगाने का एक विशिष्ट स्थान होता है, जो अक्षर के इर्द-गिर्द होता है– बायें, दायें, ऊपर, व नीचे। यह नियम सभी अक्षरों पर लागू होता है, अक्षर सरल हों या संयुक्त।

मात्राओं को लगाने के नियमों के समान ही व्यंजनों को जोड़कर संयुक्ताक्षर बनाने के लिये भी सरल किन्तु विशेष नियम हैं– व्यंजनों को बायें से दायें, या ऊपर से नीचे की ओर जोडा जाता है। जिसमें क्रम में पहला व्यंजन बायीं ओर या ऊपर की ओर होता है। बायें से दायें के उदाहरण हम देख ही चुके हैं जैसे, 'क्य', 'स्म' इत्यादि, ऊपर-नीचे जोड़ने के उदाहरण नीचे दिये हुए हैं–

सिद्ध– स् + इ + द् + ध् + अ = स + इ + द्ध
= सि + द्ध

विट्ठल– व् + इ + ट् + ठ् + अ + ल् + अ = व + इ + ट्ठ + ल
= वि + ट्ठ + ल

द्वादश– द् + व् + आ + द् + अ + श् + अ = द्वा + द + श

पद्मनाभ– प् + अ + द् + म् + अ + न् + आ + भ् + अ = प + द्म + ना + भ

उपरोक्त में चूँकि 'द्' के पश्चात् 'ध' आता है, अत: 'द' ऊपर व 'ध' नीचे लिखा जाता है। (छपाई में कभी-कभी 'ध', 'द' के बायीं ओर प्रतीत होता है, इससे भ्रम हो सकता है कि भारतीय लिपियाँ नियमानुसार नहीं हैं। परंतु यह समझ में आते ही कि अक्षर ऊपर से नीचे निश्चित नियम से लिखे जाते है, यह भ्रम दूर हो जाता है।)

संयुक्ताक्षर बनाते समय, द्वितीय व्यंजन के चिह्न को दायीं ओर लिखा जाए या नीचे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उन व्यंजनों का रूप कैसा है। रूप के अनुसार ही उन्हें उचित तरीके से जोड़ने में आसानी होती है। यदि दोनों व्यंजनों के चिह्नों में खडी-पाई (आ) नहीं है तो द्वितीय को प्रथम के नीचे लिखा

जाता है, जैसे 'ट्ठ'। (यदि किसी फौन्ट में, ऊपर-नीचे लिखने के सीमित चिह्न हैं, तो उनमें हलन्त की सहायता ली जाती है।)

(ii) संयुक्ताक्षर बनाने का नियम–

दो व्यंजनों को जोड़कर संयुक्ताक्षर बनाने का नियम है– बायें से

दायें, व ऊपर से नीचे। कौन सा तरीका काम में लिया जाय, यह व्यंजनों के रूप पर निर्भर करता है।

'र' के लिये विशेष नियम 'र' के साथ कुछ विशेष नियम है, जो संक्षिप्तता की दृष्टि से बनाये गये हैं। यह नियम संयुक्ताक्षर के क्रम में 'र' के स्थान पर निर्भर करते हैं। अगर 'र' दूसरे स्थान पर है और उसके पहले कोई व्यंजन तथा बाद में स्वर है तो संयुक्ताक्षर बनाते समय 'र' के लिए पहले व्यंजन के नीचे एक विशेष चिह्न लगा दिया जाता है––

ट्रक: ट् + र+ अ + क् + अ = ट्र + क

प्रकार: प् + र+ अ + क् + आ + र+ अ = प्र + का + र

इसी प्रकार यदि ृ र' के बाद व्यंजन है तो उस व्यंजन के ऊपर एक विशेष चिह्न लगा दिया जाता है–

पर्व: प् + अ + ् व् + अ = प + र्व

अत: संयुक्ताक्षर में 'र' व्यंजनक्रम में पहले होने पर ऊपर तथा बाद में होने पर नीचे आता है।

अनुस्वार का प्रयोग

हमारी लिपि में एक और तरीका है संक्षिप्तता से लिखने का– यह है अनुस्वार का प्रयोग। प्रत्येक व्यंजन के वर्ग में अन्तिम व्यंजन के लिये, अनुस्वार (.) का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे–

अन्तिम = अंतिम

व्यंजनों की नासिक्यता के लिये अनुस्वार (ं) का प्रयोग होता है तथा स्वरों की नासिक्यता के लिए अनुनासिक(ँ) का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए–

ह् + अँ + स् + अ = हँस, और

ह् + अ + न् + स् + अ = हन्स =हंस

इनमें चन्द्रबिन्दु (ँ) तो स्वरों की नासिक्यता को चिह्नित करता है, परन्तु बिन्दु (ं) का एकमात्र उद्देश्य लिपि में संक्षिप्तता लाना है।

अन्य बातें

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि भाषा की दृष्टि से शुद्ध व्यंजन व शुद्ध स्वर के माध्यम से ही विश्लेषण करना सही है। मानकानुसार कम्प्यूटर में आन्तरिक तौर पर अक्षरात्मक चिह्नावली में ही लेख रखा जाता है। उसमें मात्राएँ भी शामिल हैं। परंतु भाषा संसाधन के लिये, उनको हटाकर शुद्ध व्यंजन व स्वर में आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है।

अनुस्वार की तरह के नियम अन्य भारतीय भाषाओं में भी हैं। एक सी वर्ण व्यवस्था तथा अक्षरात्मक लिपि होने से सभी भारतीय भाषाओं में एक समानता है। किसी एक भाषा की लिपि का कम्प्यूटरीकरण होने पर अन्य भारतीय भाषाओं का कम्प्यूटरीकरण आसान है। जो तकनीक एक पर लगाई गई हो, वह दूसरी भाषाओं के कम्प्यूटरीकरण में भी काम में आ सकती है। जैसे जिस्ट प्रौद्योगिकी कम्प्यूटर पर सभी भारतीय भाषाओं की लिपियों में एक साथ कार्य करती है।

कम्प्यूटर में टंकण करने के लिये कुंजीपटल का प्रयोग किया जाता है, कुंजियों की बनावट व आकार में अत्यधिक परिवर्तन नहीं हो सकता। ज्यादा कुंजियाँ होने पर कुंजियों को ढूंढना व याद रखना कठिन हो जाता है। अतः एक संयुक्ताक्षर का एक ही कुंजी से टंकण करना मुश्किल व अलाभप्रद है। कम्प्यूटर के आने से पूर्व बने मशीनी टाइपराइटर पर टंकण करने में अनेको कठिनाइयाँ आती थीं। पहली तो यह कि यदि हम चाहते हैं कि टाइप की हुई सामग्री अक्षरात्मक-चिह्नावली में दिखे, तो उसी चिह्नावली में उसे टाइप करना अनिवार्य है, अतः संयुक्ताक्षर सहित अनेकों चिह्नों को कुंजीपटल पर याद रखना पड़ता था। दूसरा, चूँकि मात्राएँ अक्षर के चारों ओर आ सकती हैं, अतः ऐसी मशीन बनाना तो जटिल कार्य था ही, साथ ही output सुंदर नहीं दिखता था। इन सब को देखते हुए कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी में यह सोचा गया कि अगर हम टंकण तो वर्णात्मक चिह्नावली में कर सकें, पर कम्प्यूटर screen पर परिचित अक्षरात्मक चिह्नावली दीख पडे तो अच्छा होगा। इसी को आधार मानकर इस प्रौद्योगिकी का सफल विकास किया गया है। ये सब कमियाँ कम्प्यूटर के आगमन से सामाप्त हो गई हैं। परंतु यह आवश्यक है कि हम वर्णात्मक व अक्षरात्मक चिह्नावली में पारस्परिक संबंध को समझें।

मन में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि टंकण के लिए यदि वर्णात्मक लिपि को मान लिया जाता तो ये सारी परेशानियाँ दूर हो जातीं। परंतु चूँकि हस्त-

लेखन में अक्षरात्मक लिपि प्रचलित थी। अतः वर्णात्मक लिपि का उपयोग करने का सोचा नहीं गया। यह एक उदाहरण है, जहाँ एक बेहतर विज्ञान होने के कारण, प्रौद्योगिकी का उपयोग नहीं किया गया क्योंकि वह अभी उस स्तर पर नहीं पहुँची थी। शायद इसी कारणवश छापाखाने का भी प्रचलन उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिए था।

इस प्रौद्योगिकी को उपयोग में न लाने से जो हमें हानि हुई वह सर्व-विदित है। शायद यह भी एक कारण था कि यूरोप हम से विज्ञान में आगे निकल गया। इन बातों के बारे में अब केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

निष्कर्ष

हलन्त एक प्रकार से एक ऋणात्मक (negative) वस्तु है, ठीक वैसे ही जैसे कि ऋणात्मक संख्या (negative number)। जिस प्रकार ऋणात्मक संख्या को एक धनात्मक संख्या में जोड़ने पर धनात्मक संख्या का मान कम हो जाता है, उसी प्रकार से हलन्त को अपने से पूर्व अक्षर में जोड़ने पर उसमें से 'अ' घट जाता है। हलन्त का प्रयोग, भारतीय भाषाओं की विशेषता है। हलन्त का आविष्कार भारत में हुआ, तथा कदाचित् इस प्रकार की अवधारणा अन्य किसी भाषा में नहीं है।

भारत में भाषा पर विशेष रूप से कार्य हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे कि यूनान (Greece) में ज्यामिति पर। भारत ने विश्व को शून्य की अवधारणा दी, तथा इस सबको देखते हुए लगता है कि यह आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि भारत में शून्य की अवधारणा भाषा में विकसित होकर गणित में गई हो।

❒❒❒